

रामाश्रम सत्संग डिजिटल प्रकाशन

सद-विचार --- सद्ज्ञान

(राम सन्देश से चयनित लेखों का संकलन)

(भाग - २)

रामाश्रम सत्संग (रजि०)
9-रामकृष्ण कॉलोनी, जी०टी० रोड,
गाज़ियाबाद- 201009 (उ०प्र०)

प्रकाशक :

डा० शक्ति कुमार सक्सेना

अध्यक्ष एवं आचार्य, रामाश्रम सत्संग (रजि०)

गाज़ियाबाद (उ०प्र०)

सर्वाधिकार सुरक्षित :

डिजिटल संस्करण (जून, 2019)

अनुक्रमाणिका

- १) एक नम्र निवेदन
- २) वसन्तोत्सव का आध्यत्मिक रहस्य
- ३) भक्ति और निष्ठा
- ४) मानस मंथन और 'निजस्व' बोध
- ५) मनुष्य बनें - पाँच तत्वों का महत्व जानें
- ६) ज़िक्र और फ़िक्र (जाप एवं ध्यान)
- ७) कल्याण मार्ग - मनको भक्ति में लगायें
- ८) प्रार्थना हृदय को शक्ति प्रदान करती है
- ९) आत्म कल्याण हेतु सुझाव
- १०) मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है या परतंत्र
- ११) प्रेम की लीला
- १२) अन्तरावलोकन
- १३) 'कृपा' पाने योग्य अधिकारी बनें
- १४) प्रीत
- १५) गुरु शरणागत की अद्भुत महिमा
- १६) परमार्थ पथ और अनुभवी गुरु
- १७) गुरु सेवक चराचर
- १८) सच्चा आश्रय - संतों की वाणी
- १९) प्रभु के निकट पहुँचने का सरल साधन - सुमिरन
- २०) रामचरितमानस में 'नाम' की महिमा
- २१) नाम साधना का विशद विवेचन

एक नम्र निवेदन

(परमपूज्य डॉ० शक्ति कुमार सक्सेना जी)

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े; काके लागू पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने, जो गोविन्द दियो मिलाय ॥

बिना गुरु गति नहीं है, यह एक ऐसा सत्य है जिसे हम किसी भी प्रकार झुठला नहीं सकते । हम बहुत भाग्यशाली हैं कि हमें मनुष्य चोला मिला है और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस जीवन काल में ही हमें गुरु की शरण भी मिल गयी । हममें से कुछ ऐसे भाई- बहन भी हैं जिन्होंने न सिर्फ इस सदी की दो महान विभूतियों - परमसन्त डॉ० श्रीकृष्ण लाल जी महाराज और परमसन्त डॉ० करतार सिंह जी साहब के दर्शन किये अपितु उनका संरक्षण और सानिध्य भी प्राप्त किया । मेरा यह मानना है कि रामाश्रम सत्संग के इन महापुरुषों का जीवन अपने आप में एक ऐसी मिसाल है जो हम सब का हर पल, हर क्षण मार्गदर्शन कर रहा है और आजीवन प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा ।

हमारे दादा गुरुदेव परमसन्त डॉ० श्रीकृष्ण लाल जी महाराज संतमत के उच्चकोटि के संत हुए हैं । उन्होंने अपने गुरुदेव परमसन्त महात्मा रामचन्द्र जी महाराज के गुरुमुख शिष्य होने के नाते संतमत की आध्यात्मिक शिक्षा को प्रेम, करुणा, दीनता, सेवा एवं परोपकार की भावना से भूले -भटके और ज़रूरतमंद लोगों तक पहुंचाने का काम आजीवन किया और अपने आपको इसी मिशन की भेंट कर दिया । ऐसे बहुत लोग हैं जिनके जीवन में उनकी कृपा से जो परिवर्तन हुआ, जो उजाला हुआ, उसका प्रकाश आज भी दिखाई देता है । जिस किसी ने भी उनसे सच्चा प्रेम किया उसको उन्होंने अपना लिया । पूज्य गुरुदेव डॉ० श्रीकृष्ण लाल जी महाराज का कहना था कि , " एक प्रेम के नाते को छोड़कर मैं किसी और नाते को नहीं जानता, केवल प्रेम और वह भी निस्वार्थ प्रेम । जो लोग बिना स्वार्थ के मुझसे प्रेम करते हैं, चाहे वे कैसे भी हैं, उन्हें मैं प्रेम करता हूँ, वे मेरे हैं और मैं उनका । वे सदैव मुझ पर आश्रित

रह सकते हैं और वे देखेंगे कि मैं सदैव उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ । " इस अटूट प्रेम और श्रद्धा का जीवंत उदाहरण अगर कोई है तो वे हैं हमारे गुरुदेव परमसन्त डॉ० करतार सिंह जी साहब जिन्होंने अपना पूरा जीवन अपने गुरुदेव को समर्पित कर दिया। वे अपने गुरुदेव के किसी भी आदेश का पालन करना अपना धर्म समझते थे । ऐसे बहुत कम संत हुए हैं जो शतायु हुए हों और हमारे गुरुदेव डॉ० करतार सिंह जी साहब उनमें से एक थे । आज स्थूल रूप में गुरुदेव हमारे बीच नहीं हैं लेकिन यह भी सत्य है कि सूक्ष्म रूप में आज भी वे हमारे साथ हैं और हम सब पर उनकी अपार कृपा निरंतर बरस रही है, जिसको हम बार-बार महसूस कर रहे हैं और करते रहेंगे । वे बड़े ही प्यार से कहा करते थे " बोलो आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ।" हर कोई इस कदर भाव-विभोर हो जाया करता था कि आगे कुछ कहने की हिम्मत ही नहीं होती थी । गुरुदेव हमेशा इस बात पर ज़ोर दिया करते थे कि " आप चाहे कोई भी साधन करिये, दीनता को तो अपना ही होगा । अहंकार से प्रभु नहीं मिलते, अहंकार ही हमारी सबसे बड़ी बाधा है । उनका कहना था कि " कितने बरस हो गये सत्संग में आते हुए परन्तु अभी भी हम असंतुष्ट हैं । " उनका यह भी कहना था कि, " हमें निरंतर मनन और स्वनिरीक्षण (introspection) करना चाहिए..... हम आज कहाँ हैं..... हमारी मानसिक स्थिति क्या है ?"

हम ईमानदारी से अपने भीतर झाँक कर देखें कि क्या हमने सच्चे रूप में दीनता को अपनाया है ? क्योंकि यह सत्य है कि हम जब तक दीनता को नहीं अपनायेंगे, हमारा कल्याण नहीं हो सकता । हम दूसरों के अवगुण तो देखते हैं परन्तु यदि हम अपने भीतर देखें तो जो अवगुण हम दूसरों में देखते हैं वो अवगुण हमें अपने अन्दर ही नज़र आएंगे । उन्हें दूर करने के लिए हमें निज कृपा और गुरु कृपा दोनों का सहारा लेना होगा ।

आज समय आ गया है कि हम अपनी कमियों को समझें और देखें कि हम कैसे अपनी कमियों को दूर कर सकते हैं, और जैसा गुरुदेव चाहते थे वैसा बनने की कोशिश करें । मेरा यह मानना है और सविनय अनुरोध है, कि यदि हम सेवा को अपने जीवन में अपना लें तो जीवन बहुत ही सरल हो जायेगा और हम देखेंगे कि दीनता और प्रेम दोनों ही अपने आप आ जावेंगे और हम उस परम अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे, जो हमारे जीवन का लक्ष्य है ।

आशा करता हूँ कि आप मेरे विचारों से सहमत होंगे और मेरे अनुरोध को स्वीकार कर मुझे अनुग्रहीत करेंगे। मुझे यकीन है कि आपका जो सहयोग मुझे और रामाश्रम सत्संग को आज तक मिलता रहा है वह आगे भी मिलता रहेगा और हम मिलकर गुरुदेव के इस मिशन को पूरा करने में कामयाब होंगे।

*" तेरे कर्म से बेनियाज़ , कौन सी शह मिली नहीं,
झोली ही अपने तंग है, तेरे यहां कमी नहीं।*

गुरुदेव सबका कल्याण करें।

-- डॉ॰ शक्ति कुमार सक्सेना

वसन्तोत्सव का आध्यात्मिक रहस्य

(आचार्य डॉ० अक्षय कुमार बैनर्जी)

यौवन पूजा भारतीय संस्कृति का एक विशेष अंग है। हिन्दू धर्म नित्य परिपूर्ण यौवन को ही मानव जीवन के आदर्श रूप में ग्रहण करके अग्रसर होता है। तैत्तिरीय श्रुति मानव जीवन के पूर्ण आनन्द के उदाहरण स्वरूप ' आशिष्ठ द्रदिष्ठ बलिष्ठ मेघावी ' यौवन को ही आदर्श रूप में उपस्थापित करता है। ईशोपनिषद् का उपदेश है - " कर्म करते हुए अन्त तक कर्म-क्षमता अक्षुण्ण बनाये रखते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिये, प्रयत्नशील होना चाहिये" व्याधि, जरा, मृत्यु - इन तीनों को मनुष्यमात्र कोई नहीं चाहता। व्याधि और जरा जीवन पर मृत्यु के ही आक्रमण हैं - मृत्यु की ही जय घोषणा हैं। मृत्यु के साथ जीवन का अनवरत युद्ध चलता रहता है। जब भी मृत्यु की आपेक्षिक विजय होती है और मृत्यु का प्रभाव जीवन पर विस्तार पाता है, तभी रोग आता है, तभी जरा (वृद्धावस्था) आती है। साधारण व्याधि में मृत्यु के निकट जीवन का आत्म-समर्पण नहीं होता, अपितु मृत्यु को प्रवंचित करने के लिए जीवन का एक साविधि प्रयत्न होता है। जरा तो वास्तव में मृत्यु के चरणों में जीवन का नैराश्यपूर्ण आत्म-समर्पण है। वृद्ध मनुष्य सम्पूर्ण रूपेण काल के गाल में कवलित होने की प्रतीक्षा करता रहता है, जितने दिन कवलित नहीं होता, उतने दिन यंत्रणा भोग करता है। जगत के लिए उसका जीना व्यर्थ होता है। अतएव जगत में कोई उसे चाहता नहीं। मृत्यु भी उसे ग्रस कर आत्मलीन नहीं करती, न उसे जागतिक लांछना से ही छुटकारा दिलाती है। इसलिए बुढ़ापा प्रायः व्याधि की अपेक्षा भी अधिक पीड़ा दायक होता है। इसीलिए मनुष्य की साधना जरा और मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए -'**जरामरणमोक्षार्थम्**' होती है।

जिस जीवन में मृत्यु की कोई छाया न हो, व्याधि और जरा के कोई चिन्ह न हों, जिस जीवन में देह बलिष्ठ, मन द्रदिष्ठ, हृदय आशा से परिपूर्ण, बुद्धि सत्यानुसन्धानमग्ना और विचार निपुण हों, जिस जीवन में विषाद-अवसाद-नैराश्य और कायरता को कोई स्थान न हो, जिस जीवन में सम्पूर्ण अवयव आनन्द में झूमते हुए अनवरत पूर्णतर आनन्द-सम्भोग और

रसा-स्वादन के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हों - उसी जीवन का नाम यौवन है । यह यौवन ही जीवन का स्वाभाविक विकास है । पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम यौवन में सुप्रतिष्ठित होना ही मानव जीवन का आदर्श है । जिस यौवन में सम्पूर्ण सत्ता और चेतना परिपूर्ण आनन्द में निमग्न रहती है, जिस अवस्था में सत्ता के किसी अंश के नष्ट या मृत्यु ग्रस्त होने की आशंका नहीं रहती, चेतना के किसी अंश के आकृत, विमोहित अथवा विक्षुब्ध होने की सम्भावना नहीं रहती - जीवन की वही नित्य निखिलरसामृत-सिंधु-अवस्था ही जीवन की पराकाष्ठा है, वही मानव-जीवन का चरम आदर्श है और उसी के लिए है मनुष्य की साधना । भारतीय आध्यात्म साधना मनुष्य को 'सर्वभावेन' उसी परिपूर्ण यौवन-लाभ के मार्ग की चिरकाल से शिक्षा दे रही हैं । सभी साधन पद्धतियाँ, सभी उपासना-प्रणालियाँ, सभी भावानुशीलन, सभी व्रत-नियम, सभी उत्सव और सभी विधि-व्यवस्थाएँ इसी आदर्श को लक्ष्य करके प्रचलित हुई हैं।

भारतीय साधना के क्षेत्र में असंख्य देव-देवियों के दर्शन होते हैं। आध्यात्मदृष्टि और शिल्प-नैपुण्य में परस्पर के पूर्ण सहयोग से इन देव-देवियों को विचित्र स्वरूपों में निर्मित कर संसार के समक्ष उपस्थापित किया है । " एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति " इसी वेद मंत्र के द्वारा अनुप्राणित होकर साधकों ने एक अद्वितीय परमतत्व को ही विचित्र नामों से, विचित्र रूपों से, विचित्र गुण-शक्ति से, विचित्र अलंकारों, अस्त्र-शस्त्र, वेश-भूषाओं से अलंकृत किया है । सभी देव-देवियों का प्राण तो वह एक ही परमतत्व है परन्तु अवयव विचित्र, प्रकाश भंगिमा विचित्र, जागतिक लीला और उपासक के साथ सम्बन्ध विचित्र हैं । सम्पूर्ण वैचित्र्य के बीच में एकत्व के चमत्कार का आस्वादन है । यह लक्ष्य करने का विषय है कि सभी देव -देवियाँ/चिर-यौवन-अलंकृत हैं । सभी परिपूर्ण यौवन के स्वरूप हैं। किसी भी उपास्य देव अथवा देवी के जीवन में जरा-मरण का छायापात भी नहीं है । यौवन को लेकर ही उनका अधिभार्व, यौवन को लेकर ही उनका लीलविलास, यौवन को लेकर ही उनके सम्पूर्ण वीर्य, ऐश्वर्य-सौन्दर्य और माधुर्य का प्रकाश और यौवन की ही विचित्र क्रीड़ा उनके सभी क्रियाकलापों में प्रकटित है । इन सब देवतागणों में पिता, पितामह, माता, मातामह, पुत्र, कन्या, पौत्र, पौत्री सभी के पूर्ण यौवन के विग्रह हैं ।

सर्व लोक पितामह श्रष्टिकर्ता ब्रह्मा अनादि अनन्त काल से श्रष्टि करते चले आ रहे हैं । करोड़ों वर्षों के बाद भी उनके श्रष्टि सामर्थ्य, सृजन के उत्साह में बिंदु मात्र भी कमी नहीं आयी

। एक से बहुत की उत्पत्ति करना, एक को अनेकों रूपों में प्रतीयमान करना, एक ही सत्ता के अन्तर्निहित अव्यक्त ऐश्वर्य को देशकाल की सीमा में विचित्र आशा से व्यक्त करके प्रदर्शित करना और पुनः अनेकों में प्रत्येक की अन्तर्गूढ सम्भावना को नया-नया वास्तव आकार देना - इसी का नाम है श्रष्टि एवं यही श्रष्टि-प्रक्रिया चिरकाल से बड़े वेग और आनन्द के साथ चलती आ रही है अनादि अतीत से अनन्त भविष्य की ओर यह श्रष्टि धारा प्रवाहित हो रही है। श्रष्टिकर्ता को न कोई क्लान्ति है, न अवसाद, न निरुत्साह है। उनको व्याधि नहीं, जरा नहीं, मृत्यु नहीं। वे हैं चिर युवा। विश्व के वैचित्र्य की श्रष्टि में उनके अक्षय यौवन का परिचय मिलता है। श्रष्टि की इस चिर नवीनता पर मुग्ध ओर चमत्कृत होकर साधक उसी चिर युवा श्रष्टिकर्ता की उपासना में अपने को नियुक्त करता है, उन्हीं के प्राण के साथ अपने प्राणों को मिलाकर उन्हें एक स्वर में झंकृत करने का प्रयास करता है, स्वयं भी इस चिर नूतन जगत में अपने को चिर नूतनत्व में प्रतिष्ठित करने के लिए लालायित होता है एवं नये-नये श्रष्टि कार्य में आत्म नियोग करता है।

श्रष्टिकर्ता जैसे कभी भी बृद्धावस्था से ग्रस्त नहीं होते, संहारकर्ता रुद्रदेव भी उसी प्रकार जराक्रान्त नहीं होते। उनके संहार कार्य में भी कभी विराम नहीं होता। एकत्व में से बहुत्व का विस्तार करना जैसे श्रष्टि कार्य है, वैसे ही बहुत का एकत्व में विलय करना संहार कार्य है। एक को अनेक करना का कार्य जैसे अनादि अनन्त काल से चलता आ रहा है, उसी प्रकार प्रपंच का विनाश साधन करके उनको अपने-अपने कारण में लीन करने का कार्य भी अनादि, अनन्त काल से चला आ रहा है। इस संहार कार्य में संहारकर्ता रुद्रदेव को भी कोई क्लान्ति, कोई अवसाद या कभी निरुत्साह होते नहीं देखा जाता। पुरातन प्रतीयमान होने वाले सब पदार्थों के कारण के एकत्व में विलीन करके वे नवीन श्रष्टि का मार्ग सुगम कर देते हैं, विश्व जगत के चिर नवीनत्व की रक्षा करते हैं। सारी श्रष्टि चलती है ध्वंस की ओर। समस्त ध्वंस चलता है श्रष्टि की ओर। एक से बहुत, बहुत से एक - दोनों स्रोत जगत में समान भाव से प्रवाहित होकर जननी वसुन्धरा को भी चिर-यौवन -सम्पन्ना बनाये रखते हैं। ज्ञानस्वरूपणी सरस्वती देवी ब्रह्मा के श्रष्टि कार्य में, विचित्र कला-कौशल कार्य में योग प्रदान होकर संहार कार्य को भी वैचित्र्यमय ओर सुशोभन बना देती हैं। विश्व की श्रष्टि ओर संहार, सभी यौवन का खेल है।

श्रष्टि ओर संहार के बीच में पालन ओर पोषण का कार्य है । सभी जड़-चेतन स्रष्ट पदार्थों में सामंजस्य की प्रतिष्ठा करके वैषम्य में साम्य स्थापन करके, बहुत्व को ऐक्य के सूत्र में संग्रथित करके, सम्पूर्ण विश्व जगत को अक्षुण्ण रखना ही स्थिति अथवा पालन कार्य है । भारतीय मनीषियों ने पालनकर्ता विष्णु को अनादि-अनन्त काल से इस कार्य के अध्यक्ष रूप से वर्णन किया है । श्रष्टि के अनादि आदि से ही यह पालन कार्य - सम्पूर्ण वैषम्य में साम्य ओर ऐक्य की प्रतिष्ठा करने में - अनन्त संघर्ष में सामंजस्य की रक्षा करते हुए विश्व को सुन्दर ओर महान बनाने के कार्य में अनवरत कितनी समस्याओं का उद्भव और कैसे उनके समाधान की व्यवस्था होती है, कितने संग्राम, कितने घात-प्रतिघात के भीतर से ही कैसा सुन्दर मिलन और परिपुष्टी का विधान चलता है; कितने क्लेश, कितने आर्तनाद के भीतर से कैसे नित्य अभिनव आनन्द का विकास होता है; कितनी वीभत्सता, कितनी भीषणता का कैसे नूतन-नूतनतर माधुर्य के उपकरण रूप में व्यवहार होता है । यह पालन और पोषण कार्य अद्भुत है ।

विश्व के प्रत्येक अंग की प्रत्येक समस्या ही मानो विश्व को महत्व, सौन्दर्य और आनन्द के ऊँचे स्तरों पर उठा देने का सुन्दर आयोजन है । इस द्वन्दमय जगत में द्वन्द की तीव्रता और व्यापकता के भीतर से ही क्रमोत्कर्ष के साधन का विधान होता है । विष्णु का सुदर्शचक्र अति आश्चर्य रूप से विश्व के सभी स्थानों में और सभी स्तरों पर घूमता रहता है । वैषम्य श्रष्टि का जैसे विराम नहीं है, एक ही सत्य को परस्पर प्रतिद्वन्दी असंख्य भाव रूप में अभिव्यक्त करने का श्रष्टि कार्य जैसे अव्याहत गति से अनादि अनन्त काल से चला आ रहा है, वैसे ही इस द्वन्द संघर्ष, वैषम्य और नैषठुरय के भीतर से ही एक ही सत्य के स्वरूपभूत सौन्दर्य, माधुर्य, वीर्य और ऐश्वर्य को इस विश्व में नित्य नूतन रूप देने का कार्य भी अद्भुत भाव से अव्याहत गति से चलता रहता है । श्रष्टि और संहार के मध्य में पालन और पोषणकर्ता विष्णु सर्वदा जाग्रत रहते हैं। उनकी न क्लान्ति होती है, न असावधानता, न अवसाद और न होता है कभी अनुत्साह। चिर यौवन की पराकाष्ठा उनका भी स्वरूप है । सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री लक्ष्मी देवी सर्वदा उनकी सेवा में संलग्न रहती हैं । प्रकृति राज्य के अधिनायक देवता वृन्द की जीवन-लीला में जरा, व्याधि, मृत्यु का कोई छायाघात नहीं है। परिपूर्ण जीवन के आदर्श स्वरूप देवगण ही हिन्दुओं के उपास्य हैं - उनके जीवन के आदर्श हैं ।

इन्द्र, चंद्र, वायु, वरुण, सूर्य, अग्निदेव आदि जितने भी देवता हैं, सभी चिर युवा हैं। भारतीय जीवन के आदर्श-स्वरूप भगवान - श्री रामचन्द्र, श्री कृष्णचन्द्र इत्यादि अवतार नारद-शुक्र आदि ऋषिगण, ध्रुव, प्रहलाद भक्त, दत्तात्रेय-गोरक्षनाथ योगी सभी चिर-युवा, चिरनवीन हैं। मानव गणना के अनुसार उनकी वयोवृद्धि स्वाभाविक नियमानुकूल होने पर भी, हिन्दू जाति की स्मृति में उनमें से किसी का वृद्ध रूप नहीं है, प्रत्येक ही सदा पूर्ण यौवन के स्वरूप में स्मरणीय और पूजनीय है। जीवन का परिपूर्ण विकास रूप यौवन ही भारतीय शास्त्रों में उपास्य रूप में परिग्रहीत हुआ है।

भारत की इसी यौवन-पूजा की एक विशेष रूप में अभिव्यक्ति है - 'वसन्तोत्सव'। यह वसन्तोत्सव अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में सर्वत्र प्रचलित है। जनसाधारण की रुचि, बुद्धि और प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रदेशों में और विभिन्न युगों में विचित्र रूप में अनुष्ठित होता आ रहा है। श्री भगवान् ने गीता के विभूति-योग में कहा है - " ऋतुनां कुसुमाकरः " सब ऋतुओं में मैं बसन्त हूँ। प्रकृति की अन्तर्निहित प्राणशक्ति इस ऋतु में विचित्र रूप, रस, गन्ध, वर्ण और शोभा सम्पत्ति में आत्मप्रकाश और आत्म-सम्भोग करती है। शीतकाल की जड़ता के अवसान में प्रकृति देवी के सारे अंग-प्रत्यंग बन्धनमुक्त प्राण की क्रीड़ा में उल्लसित होकर नाचने लगते हैं। भविष्य में उनका कोई अंग तापदग्ध हो सकेगा, इसकी कल्पना भी उसके हृदय में स्थान नहीं पाती। नातिशीतोष्ण मलयानिल को अपना सहचर बनाकर वह अपने पूर्ण यौवन तथा पूर्ण जीवन के आस्वादन में मग्न हो जाती है।

वासन्ती प्रकृति के जीवन तथा यौवन से भरे हुए प्राण के सहित अपना देह, मन, प्राण मिलाकर भारतीय नर-नारी रंग की क्रीड़ा में अपने जीवन-यौवन के आस्वादन में उन्मत्त हो जाते हैं। विश्व प्रकृति के विज्वर, विमृत्यु, विशोक, अमृतमय, प्रेममय, आनन्दमय समिष्टि प्राण के सहित अपने व्यष्टि प्राण समूह को एक सूत्र में ग्रन्थित करके, एक सुर में झंकृत करके, आबाल-वृद्ध-नारी सभी भारतीय समाज-जीवन के पूर्ण आदर्श का आस्वादन करने में प्रयत्नशील होते हैं। वसन्त की प्रथम शुक्लपंचमी को सर्व कलाओं तथा विद्याओं की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के आवाहन से इस वसन्तोत्सव का प्रारम्भ होता है और अगली शुक्ला नवमी को पशुराजवाहिनी असुरराजमर्दिनी, वीयेश्वर्यविद्या-सिद्धिप्रसविनि नित्य शिव सुन्दरसंगिनि महाशक्तिमयी परा-प्रकृति की आराधना में यह वसन्तोत्सव समाप्त होता है। समिष्टिप्राण की

विजय घोषणा के भीतर से अपने प्राण का परिपूर्णस्वरूप साधकगण आनन्दपूर्वक अनुसन्धान करते हैं और अभिनय के माध्यम से उसका आस्वादन करते हैं ।

बंग प्रदेश की दोलयात्रा इसी वसन्तोत्सव की एक महिमामण्डित विकास-यात्रा है। त्रितल वेदी के ऊपर झूले में विराजमान श्री भगवान परिपूर्ण सत्ता, परिपूर्ण शक्ति, ज्ञान, कल्याण और प्रेम के पूर्ण आस्वादनमय परमानन्द में नित्य झूलते रहते हैं । वहाँ उनका अपनी अंतरंगा शक्ति समूह के साथ नित्य विहार होता है। उनकी अपरिच्छिन्न सत्ता, वीर्य और ज्ञान परम् कल्याण में सुशोभित तथा परम प्रेम में और सुमधुर परम् आनन्द में उल्लसित रहती है । वहाँ पर जीवन और यौवन की पराकाष्ठा होती है और होता है गम्भीरतम आस्वादन । यही अप्राकृतिक अविकार देशकालातीत परमानन्दधाम ही जीवन यौवन का नित्य धाम है ।

' यदगत्वा न निवर्तन्ते ' यहाँ पर जरा, व्याधि और मृत्यु का झाँकना भी निषिद्ध है। साधक पुरुष सर्वबंधनविवर्जित होकर सम्यक शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था में, आनन्द समाधि में विश्व के प्राण पुरुष के इस नित्य धाम में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करता है; अपने यौवन जीवन के परिपूर्ण स्वरूप का आस्वादन करता है।

यही आस्वादन त्रितल वेदी के द्वितीय सोपान पर उतरता है अतरंगा शक्ति के नित्य विलासधाम से तटस्थाशक्ति के वैचित्र्यमय आस्वादन क्षेत्र में - तत्व के राज्य से जीव के भाव के राज्य में। तत्व राज्य में जो अपने आप प्रेमघनानन्द में दोलायमान रहते हैं, वे ही भगवान अपनी जीवभूता तटस्था शक्ति के भावविलास के आकार में आस्वादन करते हैं। इस भाव के राज्य में युगल रूप का अद्भुत विलास और सम्भोग है। यहाँ पर मिलन के साथ विरह का युगल भाव, हास्य के साथ रुदन का युगल भाव, दैन्य के साथ अभियान का युगलभाव, इत्यादि अनेकों भाव हैं। कितने भाव, कितने काव्य, कितने नाटक, कितनी शिल्पकला, कितने उत्सव, कितनी पूजा अर्चना, कितने साधन भजन के बीच में आनन्दमय रसराज का आत्मानन्द सम्भोग विचित्र रस-समन्वित रूप अनादि अनन्त काल से धारण किये हैं।

तत्व के राज्य में विशुद्ध प्रकाश का खेल है, भाव के राज्य में प्रकाश और छाया का खेल है। सभी प्रकाश और छाया का आलिंगन और संघर्ष के भीतर एक भावातीत आनन्द ही दोलायित होता है। यह भाव का राज्य तत्व और बहिः प्रकृति के बीच में अवस्थित है। अन्तरंग

तत्व शक्ति का प्रकाश और बहिरंगा प्रकृति शक्ति की छाया - दोनों का ही प्रभाव रहता है। कितने वर्णों में, कितने गंध में, कितने गान में, कितने छंद में रूपातीत का आत्मास्वादन भाव राज्य में रूप धारण करता है। भावुक साधकगण पूर्ण जीवन यौवन की सम्पूर्ण वैचित्र्यमय लीला का आस्वादन करके परमानन्द में - भाव सागर में तैरते रहते हैं - तरंग किल्लोल में रसास्वादन करते रहते हैं ।

भावातीत नित्यधाम के सच्चिदानन्दधन परम् पुरुष भाव राज्य के विचित्र रसास्वादन के हिंडोले पर आरूढ़ होकर निम्नतम सोपान पर अवतरण करते हैं अर्थात् बहिरंगा माया शक्ति के देश काल-विस्तृत पार्थिव जगत में पदार्पण करते हैं। इस जगत में कितने विचित्र आकार के, कितने विचित्र रूप, रस, गंध, स्पर्श के औषधि, वनस्पति, लता, पत्र, पुष्प, फल, नद-नदी के कितने विचित्र प्रवाह; पर्वतमाला के कितने विचित्र रूप, आकार पशु- पक्षी, कीट-पतंग, की कितनी विचित्र आकृति-प्रकृति, जीवन -यापन और सुख सम्भोग की प्रणाली; मनुष्य के कितने शक्ति-सामर्थ्य, कितनी विचित्र हृदयवृत्ति, बुद्धि-वृत्ति, और चित्त-वृत्ति; कितनी उदभावनी शक्ति, संगठनीशक्ति और संहारिणी -शक्ति; कितनी विचित्र सत्यानुसन्धित्सा, रस पिपासा, भव विलास और भोग-लिप्सा आदि प्रकट होते हैं ।

एक ही आनन्दधन परम् पुरुष अपनी असीम आनन्द-सत्ता को अनन्त रूप में आस्वादन करने के निमित्त कितने अनन्त प्रकार के आवरण का सृजन करते हैं, कितने विविध प्रकार के द्वन्द और संघर्ष का आयोजन करते हैं, कितने अद्भुत कला-कौशल से स्वयं से छिपा कर, आप ही अपने को खोजते हैं, खोजने पर न पाकर रोते हैं। खोज कर नए भाव में प्रगट करके उल्लिसत होते हैं।

विश्व-जगत के सभी विभागों में यही आनन्द का खेल, यौवन का खेल, वसन्त का खेल चिर काल से चल रहा है। विश्व प्रकृति नित्य नूतन रूप धारण करके, नित्य नई वेशभूषा धारण कर, पुरातन, जीर्ण, मलिन, निष्प्रभ सब कुछ अपने ही भीतर छिपाकर, चिर यौवन की विचित्र लीला का प्रदर्शन करती है। मायिक जगत के श्रष्टि-स्थिति-ध्वस के तरंगित प्रवाह में भगवती आह्लादिनी शक्ति ही अपने को विचित्र रूपों में अभिव्यक्त करती है एवं भगवान के आत्मानन्द सम्भोग का वैचित्र्य सम्पादन करती है। वासन्ती पूर्णिमा का होली महोत्सव इसी आध्यात्म दृष्टि को ही जीवंत भाव में आस्वादन करने की चेष्टा है।

रसिक भावुक प्रेमिल भक्त इसी दृष्टि से नैसर्गिक व्यापार-परम्परा का सन्दर्शन करके सर्वत्र ही अनन्त रस-विलासी चिर-तरुण श्री भगवान के लीला-रस का आस्वादन करें एवं अपने जीवन को उसी परिपूर्ण जीवन यौवन के नित्य आदर्श के सहित योग युक्त होने में प्रयत्नशील हों। देह के सब परिणामों की, जगत की सब घटनाओं की वे समान भाव से 'रम्यतयैव' सम्भोग करें एवं जीवन उनके समीप कभी पुराना या विरस न हो । जरा की अनुभूति उनको स्पर्श न करे, मृत्यु उनको विभीषिका न दिखावे, दैत्य दानव का ताण्डव नृत्य देखकर उनका हृदय भयातुर, संकुचित अथवा दुखी न हो । समस्त जगत में वे आनन्दमय की क्रीडा देखकर, पूर्ण जीवन-यौवन लेकर सभी रंग के खेलों में योगदान करें । वसन्तोत्सव के आयोजनों में मस्त होकर विश्व के सब मनुष्यों को, सब जीवों को, आह्वान करके निर्मल स्नेह दान से रंग दें, एवं सबके भीतर एक नित्य सत्य रसमय निर्विकार परिपूर्ण जीवन के अद्भुत प्रकाश का दर्शन करें।

पार्थिव शरीर की सारी अपूर्णता, सारे अभाव-अभियोग, सब द्वन्द-कलह, सारी ज्वाला-यंत्रणा, समस्त दुर्बलता-मलिनता आदि के मध्य एक परिपूर्ण परम् पुरुष का प्रेम, कल्याण और आनन्द का, ऐश्वर्य-माधुर्य का अनुसन्धान करके, जीवन के सब विभागों में पूर्णता का आस्वादन करने के अपूर्व कौशल का आविष्कार, भारतीय आध्यात्म-संस्कृति की एक चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति है। और इसी का सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वतोमुखी स्वरूप है - वसन्तोत्सव ।

(कल्याण से साभार)

प्रेषक - रामसागर लाल, गोरखपुर राम सन्देश : फरवरी, १९९४

राम सन्देश अप्रैल, १९७०

भक्ति और निष्ठा

(प्रोफेसर अक्षय कुमार बंदोपाध्याय)

भक्ति का अर्थ है परमात्मा में निष्ठा , प्रेम और अनुराग । मानव शरीर तीन शरीरों की मिलौनी है - स्थूल, सूक्ष्म और कारण । स्थूल,शरीर में इन्द्रियां प्रधान हैं , सूक्ष्म शरीर में मन प्रधान है और कारण शरीर में आत्मा प्रधान है । आत्मा परमात्मा का अंश है । परमात्मा के सारे गुण सीमित रूप में आत्मा में मौजूद हैं । अतः जीवात्मा स्वभावतः परमात्मा का अंश होने से उसका प्रेमी है , इसलिए बीज रूप में भक्ति भी उसमें रहती ही है । इस पिण्ड शरीर में जैसे और गुणों को हम पैदा करते हैं वैसे ही भक्ति को भी अपने अंदर से विकसित करना पड़ता है। इसके साधन भी हमें पहले से ही प्राप्त हैं । नियमपूर्वक पूर्ण विश्वास के साथ अगर हम उन साधनों में सतत लग जाँएँ तो ईश्वरीय गुण हममें जगने लग जायेंगे। यही प्रवृत्ति जब पूर्ण रूप से हम अपने जीवन में उतार लेते हैं तो मानव जीवन का आदर्श अपने आप पूरा हो जाता है । असलियत तो यह है कि भक्ति हमें किसी बाहरी वस्तु अथवा बनावटी साधनों से नहीं मिल सकती । शरीर , मन, बुद्धि, भावनाएं , इच्छाएं, कर्म तथा बाहरी दुनियाँ के संबंधों को जब हम व्यवस्थित रूप से संयत कर लेंगे तो भक्ति अपने आप विकसित होने लगेगी ।

परमात्मा के प्रति निष्ठा , प्रेम, अनुराग तथा सेवा हर व्यक्ति को सावधानीपूर्वक जब से वह होश सम्हालता है तभी से दृढ संकल्प होकर सवारना होगा । यह बच्चों का खेल नहीं है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम किसी रूप में अपने अंदर परमात्मा की कल्पना उपजायें। आम तौर पर परमात्मा को सर्व-व्यापक , सर्व-शक्तिमान , अनन्त , अनादि सच्चिदानंद , अज , अविनाशी करके माना जाता है । यह भी मानते हैं वही इस विलक्षण ब्रह्माण्ड के सिमित एवं क्षणभंगुर अस्तित्व का पैदा करने वाला । पालन करने वाला और संहार करने वाला है। भक्ति के मार्ग में हमारे धार्मिक ग्रन्थ यह भी बतलाते हैं कि उस सर्वज्ञाता और सर्व-शक्तिमान में सम्पूर्ण अच्छाई, सुंदरता, प्रेम , दया , करुणा , उपकार, न्याय ,

सदाचारिता , इत्यादि कूट-कूट करके भरे हैं । यह धारणा उचित ही है कि वही सब गुणों का भंडार व स्रोत है सारी शक्तियां - मानवी, प्राकृतिक अथवा प्रकृति के पार की - उसी की आधीनता में हैं । हमें यह भी हृदयंगम कर लेना चाहिए कि ये सभी शक्तियां उसी की आज्ञा , इच्छा और योजना का पालन करती हैं । शारीरिक , चारित्रिक अथवा आध्यात्मिक कानून जो भी इस अखिल ब्रह्माण्ड के विभिन्न विभागों की देख-रेख कर रहे हैं - सब उसी से निर्मित हैं। वह तो ब्रह्माण्ड के भीतर और बाहर हर एक वस्तु में सामान रूप से विराजमान है । वही सब आत्माओं की आत्मा और सबके हृदय में बसता है । हमें यह विश्वास करना होगा कि वह हमारी प्रार्थना सुन रहा है , हमारी पूजा स्वीकार कर रहा है , हमें हमारे पुण्यों का फल तथा पापों की सजा देता है , हमारी त्रुटियों व अपराधों को क्षमा करता है , हमारे आर्तनाद पर दौड़ पड़ता है और उसकी शरणागत होने पर वह हमें अपना लेता है । ऐसी मधुर , सुन्दर व दिव्य कल्पना हमें सावधानी पूर्वक अपने अन्दर उपजानी है ।

निष्ठा , प्रेम और अनुराग का आधार है । कभी-कभी तो आध्यात्मिक तर्क निष्ठा को नवस्फूर्ति देने वाला होता है , परन्तु अत्याधिक तर्क अथवा वाद-विवाद इस रास्ते में संशय प्रतिसंशय खड़ा कर बौद्धिक कठिनाइयां पैदा कर देता है । अज्ञान-रहित निष्ठा अंध-विश्वास भी अविश्वास से कहीं ऊंचा है । किसी भी हालत में मुमुक्षु को अपनी आध्यात्मिक भलाई के लिए सर्व-व्यापक परमात्मा की उपस्थिति में निर्विवाद निष्ठा पैदा करनी चाहिए और उस दिव्य शक्ति के सर्वोच्च कल्पना की कामना अपने मन में बैठानी चाहिए । हमें अपने बाल्यकाल से ही यह याद रखना चाहिए कि हमारा जीवन न तो सांसारिक वातावरण से सम्बंधित है न केवल परिवार , समाज और राष्ट्र से और न ही नैसर्गिक (एटर्नल) प्रकृति (नेचर) की ताकतों से । हम तो अनिवार्यतः उस परमात्मा से संबंधित हैं जो अनंत है , सबके परे है , सबका आधार होते हुए भी स्वतः निराधार है , सबका उदगम व अन्त भी वही है , जो सम्पूर्ण इच्छाओं व दया का भण्डार है , सौन्दर्य और आनंद का सागर है । अपने अन्दर भक्त को प्रतिक्षण इस विश्वास को पुष्ट करते रहना चाहिए कि उसके अन्दर परमात्मा का सीधा अनुभव करने की , उसे देखने की , उससे बात-चीत करने की शक्ति है । वही सबका सत स्वरूप है । वह सबको अपने प्रेम से मालामाल करने वाला है । आधात्मिक विधान का पालन करते हुए मानव के रूप में यह हमारा धर्म है कि हम अनुशासनबद्ध हो भक्ति को पैदा करें ।

ऐसा विश्वास मन में अवश्य जमा लें कि परमात्मा ही हमारा सन्मार्ग का प्रदर्शन करेंगे ,हमारे रास्ते की सारी कठिनाईओं को दूर करेंगे , हमारी प्रगति के लिए समुचित वातावरण पैदा करेंगे , हमारे अन्दर सदविवेक जागेगा और अन्त में वह अपनी दिव्यता से हमारा जीवन भर देगा । हाँ , इतना अवश्य है कि हमें निष्कपट व गंभीर प्रयास करने होंगे तथा उसकी दया और मदद के लिए प्रार्थना करनी होगी ।

परमात्मा के प्रति निष्ठा अत्यन्त दृढ़ और अजेय होनी चाहिए । ऐसी सत्य निष्ठा होने पर मनुष्य के अन्दर चारित्रिक और आधात्मिक गौरव की महान चेतना पैदा होती है और इस विश्व में वह भयरहित हो जाता है । फिर न तो उसे ही किसी सांसारिक शक्ति का भय होता है और न उससे ही किसी अन्य प्राणी को भय का अंदेशा होता है । हर समय वह अपने को परमात्मा के साथ और परमात्मा को अपने साथ सुदृढ़ और सक्रिय भी कर देती है । यह सत्य निष्ठा उसे चैतन्य रखती है कि वह सदा परमेश्वर के अनुग्रह में है । वह अच्छी तरह जानता है कि चारित्रिक , नैतिक व आधात्मिक प्रगति के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है । इसलिए अपनी भावनाओं , इच्छाओं और विचारों को सुसंस्कृत कर भक्त कर्मों (कर्तव्य) को पूरी लगन के साथ करता है और अपने आचरण को सुव्यवस्थित रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है । आत्मनिष्ठ व्यक्ति सदा इस बात से अभिप्रेरित होता रहता है और चूंकि अनिवार्यतः वह परमात्मा का है , अतः परमात्मा की अनुग्रह पूर्वक मिली स्वतंत्रता के सही प्रयोग से अपने को योग्य सिद्ध करे । उसकी भक्ति में किसी प्रकार का दाग न लगे। इसी का एकमात्र डर उसे सदा बना रहता है , अन्य किसी का नहीं । भक्त के व्यावहारिक जीवन का आधार ही यह है कि उसे यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि वह परमात्मा में और परमात्मा के लिए है । तभी उसका सम्पूर्ण जीवन व्यवहार में आधात्मिक बनेगा और उसे अपनी शक्ति और क्षमता में पूर्ण विश्वास होगा ।

सत्यनिष्ठा को धर्मान्धता और कट्टरता से सावधानीपूर्वक अलग कर लेना चाहिए। धर्मान्धता वास्तव में परमात्मा में निष्ठा होना नहीं है बल्कि ईश्वर के प्रति कोई विशेष धारणा बना लेना है जिस पर उसका छिछला मन लुब्ध हो चुका होता है , उसका एक विशेष नाम अथवा रूप बना लेना जिसे वह अपनी पूजा और प्रार्थना का आधार बना लेता है , एवं विशेष कर्म या आचार अपने शरीर व मन को अनुशासनबद्ध करने के लिए व्यवस्थित

करता है । इस प्रकार का कर्म जो मन को वास्तविकता से दूर तथा दूसरों के प्रति अनुदार बनाता है, बजाय सच्ची निष्ठां पैदा करने में सहायक होने के एक अस्वस्थ और अधार्मिक भावना को पैदा करता है , मन को परमात्व-प्रकाश के प्रभाव से दूर कर देता है तथा सच्ची निष्ठां उत्पन्न करने के अयोग्य बना देता है । परमात्मा के किसी विशेष नाम, रूप या भाव के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए ,यद्यपि प्रत्येक मनुष्य को अपनी जन्मजात सीमाओं के अंतर्गत किसी न किसी विशेष नाम , रूप अथवा कल्पना की सहायता उस तक पहुँचने के लिए लेनी ही पड़ती है। परमात्मा के प्रति अनुराग को उसके किसी विशेष रूप की पूजा से अथवा धार्मिक से हतबुद्धि नहीं कर देना चाहिए, यद्यपि अनुराग की साधना में ऐसे रूपों की सहायता चाहता है ।मनुष्य परमात्मा के बारे में विभिन्न नामों , रूपों और कल्पनाओं का आश्रय ले सकता है और इस दृष्टि से वह अपने मन में ईश्वर के सम्पर्क में आ जाता है । यदि किसी विशेष विकल्पित नामों , रूपों और भावनाओं के प्रति निष्ठा किसी मुमुक्षु के मन में असहिष्णुता के भाव या दूसरे मतों के उपासकों द्वारा धारणा किये गए समान या असमान नाम रूप कल्पना के प्रति घृणा का भाव पैदा करती है तो इसे वास्तव में परमात्मा के प्रति अनुराग नहीं कहा जा सकता। परमात्मा में सजीव विश्वास कभी भी बुरा या असहिष्णुता का गन्दा भाव , घृणा या विद्वेष पैदा नहीं कर सकता, बल्कि हर सच्चे साधक अनुरागी के मन में भूतमात्र के प्रति एकत्व प्रेम का विशिष्ट भाव अवश्य ही उत्पन्न व विकसित करता है । यही एकत्व प्रेम या समत्वयोग परमात्मा की सच्ची निष्ठां की कसौटी है ।

हर परमात्मा-खोजी का मन ' ईश्वर है, ईश्वर है ' के भाव से परिपूर्ण रहना चाहिए । चाहे जिस भाषा में या जिस किसी नाम से पुकारा या संबोधित किया जाय, चाहे जिस किसी रूप अथवा मूर्ति में मूर्तिमान किया जाय, चाहे जिस किसी भी तरह से उसकी पूजा की जाय, यह सदा याद रखना चाहिए कि परमात्मा स्वयं हर विशेष नामों व रूपों, शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक प्रतिकात्मनों, आदि से सर्वोपरि है। परन्तु जब मनुष्य को उसके बारे में कुछ कहने या पूजा करने की बात आती है तब उसे किसी विशेष नाम, रूप अथवा कल्पना का सहारा लेना ही पड़ता है जिसका कोई भी एक भाव अन्य दूसरों के ही समान अच्छा और लाभकारी है। इस प्रकार उसे ईश्वर, परमात्मा, शिव, हरि, राम, कृष्ण , काली, दुर्गा, गणेश ,

पशुपति, गॉड, अल्लाह, येहोरिया, बुद्ध या जो भी नाम साधक को अच्छा लगे, दिया जा सकता है।

यद्यपि परमात्मा अन्तर ही में सिमित नहीं है और न किसी विशेष रूप से आबद्ध है - चाहे पुरुष हो या स्त्री , मानव हो या देव , पशु हो या पक्षी - साधकों के हृदय में जिस किसी भी तरह उसके प्रति श्रद्धा और आदर के भाव पैदा हों, वह उनकी पूजा कर सकता है, इसमें कोई त्रुटि नहीं होगी। यह याद रखना चाहिए कि जहां एक तरफ तो वह किसी रूप में बंदी नहीं है दूसरी तरफ ऐसी कोई भी आकृति नहीं है , चाहे सजीव हो या निर्जीव, स्थूल हो या सूक्ष्म, असल हो या काल्पनिक, बड़ा हो या छोटा, ठोस हो या बौद्धिक - जिसमें वह सर्वव्यापक न हो, जिनके द्वारा वह अपने को व्यक्त नहीं कर सकता अथवा न करता हो। अतः हर विशेष रूप में - कितना ही सीमित क्यों न हो, और कितना ही ठोस पदार्थ क्यों न हो - साधक अनुरागी को उस असीम, शाश्वत, परमशुद्ध आत्मा की उपस्थिति का सही अनुमान होने की संभावना है ।

परमात्मा निःसंशय ही हर तरह के विशेष संबंधों को श्रेष्ठतर बना देता है, परन्तु मानव इस सापेक्षता के विश्व ससीम होने के कारण संबंधों के माध्यम से ही सोचता और मालूम करता है । परमात्मा अपने इस उत्कृष्ट प्रकृति में सब संबंधों के ऊपर और सबसे परे है । मानव मस्तिस्क में सब संबंधों में ओत प्रोत है। इस प्रकार मानव परमात्मा के प्रति प्रेम, श्रद्धा और अनुराग की साधना करे , तब उसे सचमुच यह मालूम होगा कि वह उससे उतना ही निकटतम सम्बंधित है जितना कि पिता या माता, पुत्र या पुत्री, भाई या दोस्त, शिक्षक या न्यायक, आदि, आदि । इन सारी साधनाओं के काल में मुमुक्षु को सतर्कता पूर्वक अपने अन्दर यह दृढ विश्वास करते जाना चाहिए कि जो भी ईश्वरीय नाम या रूप विभिन्न वर्गों के साधकों द्वारा अपनाये गए हैं, अथवा जो भी विभिन्न रिश्ते जोड़े जाते हैं , उसी एक शाश्वत - जो सबका चिरस्थायी भूमि , श्रोत, आधार और नियामक है - के प्रति है । वह अद्वितीय है जो सबकी सुनता है , सबका उत्तर देता है, सबकी प्रार्थना व पूजा स्वीकार करता है और सब भक्तों पर अपने को प्रकट करता है ।

अतः परमात्मा का खोजी उसमें निष्ठां बढ़ाते हुए कभी भी ईश्वर-ईश्वर में, दो मतावलम्बियों के ईश्वरों में, तथा एक दूसरे की धार्मिक मान्यताओं में , भेद-विभेद न मानो उसे सर्वदा यह विश्वास और याद रखना चाहिए कि हर व्यक्ति और संप्रदाय एक ही ईश्वर को ढूँढता और पूजता है, यद्यपि उनके नामों और रूपों में विभिन्नता होती है और उसको जानने और उस तक पहुँचने के साधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं । और धर्मान्धता, कटटरता तथा विचारों का ओछापन, सारी साम्प्रदायिक संकुचिततायें , शत्रुता,अन्य निषेधक विचार और असहिष्णुता , परमात्मा के प्रति सच्ची निष्ठां तथा आध्यात्मिक प्रगति में भयंकर बाधक हैं । मुमुक्षु के जीवन का आधार और उसकी रहनी-सहनी परमात्मा - जो विश्वात्मा है - में ही होना चाहिए । अतः हर सांप्रदायिक विचारों से उसे अपने मस्तिष्क को मुक्त रखना चाहिए ।

नामों, रूपों, कल्पनाओं तथा पूजा विधियों में विभिन्नता, जो कि मानवी श्रष्टि में अति-आवश्यक है, के कारण निष्ठावान व्यक्ति को परमात्मा को विवाद का विषय नहीं बनाना चाहिए । मानव जीवन को हर प्रकार की दासता , सीमाबन्धन , असामंजस्य और विवाद से छुड़ाने के लिए हरेक विचारों, भावनाओं, और जीवन का केंद्र परमात्मा को ही बनाना चाहिए न कि इन्हीं के नए-नए रूपों में फंसाने के लिए । परमात्मा में अपने आपको केंद्रित करके प्रत्येक के प्रति एकत्व भाव से तर बतर कर देना चाहिए अन्यथा विभिन्नता का विचार इसे केंद्र से हटा देगा । सत्यनिष्ठ के सारे गुण विद्यमान होने चाहिए और यह किसी भी प्रकार के दुर्गुण का स्थल नहीं हो सकता ।

ईश्वरीय संविधान में परमात्मा के प्रति निष्ठां रखने मात्र से अनिवार्य रूप में आंतरिक स्वच्छता और उसकी हर संतान के प्रति विश्वास और भलाई के भाव जाग्रत होते हैं । अतः जो भी व्यक्ति आत्म-निष्ठां पैदा करता है वह किसी से घृणा नहीं कर सकता , किसी कि बुराई का ख्याल मन में ला नहीं सकता और न किसी के दिल को दुःख पहुंचा सकता है । यद्यपि वास्तविक अनुभव में पाया जाता है कि दुनियावीं लोग सदा उससे दुर्व्यवहार करते हैं फिर भी वह उनकी अन्तरात्मा का आदर करना नहीं छोड़ता क्योंकि स्वच्छता, भलाई और सुंदरता उसकी सहज प्रकृति होती है। इसे वह नहीं भूलता कि इनका सत्याभिमुख होना सब प्राकृतिक नियमों के आधीन है ताकि वे आत्म जागृति कर सकें । यद्यपि ईश्वरीय विधान अत्यन्त रहस्यमय है किन्तु सत्यनिष्ठ व्यक्ति विश्वासपूर्वक जानता है कि उसका विधान

जीवात्मा को उत्तरोत्तर नैसर्गिक बनाने, क्रमशः सत्य का घूँघट उठाने , भलाई , सुन्दरता और आनंद, जो कि हर व्यक्ति को जन्म से ही उपलब्ध है, को ही प्रदत्त करने के लिए है । वह सबको आत्मा के की दृष्टि से , आत्मा के ही रूप में देखता है - जो या तो हैं या होने वाले हैं और उनके दृश्य बाहिरी रूप का जरा भी ख्याल नहीं करता । हालाँकि उनकी त्रुटियाँ और कमज़ोरियाँ उसके समक्ष आती हैं , फिर भी वह उन पर विश्वास करने, संवेदना प्रकट करने , प्यार करने और समुचित आदर देने में भूल नहीं करता और न चूकता है । इनके वाह्य कर्म चाहे जितने उद्दण्ड हों और वे कितना भी कष्ट दे दें , उसे यह अपने सत्य निष्ठां कि कसौटी समझता है। उससे वह बिलकुल इन्कार नहीं करता कि यह सब भी उसी परमात्मा में निवास करते हैं , अतः सभी प्यार और आदर के पात्र हैं। इस चराचर जगत में सर्वत्र वह ईश्वरीय लीला विलास का अनुभव करता है , और सबमें सौंदर्य और भलाई ही देखता है । ईश्वर में निष्ठां का परिणाम होता है - सामंजस्य, सौंदर्य, अच्छाई, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एकत्व , जिनमें और जिनके द्वारा वह अनन्त, असीम, चरम शुद्ध, शाश्वत आत्मा जो सर्वगुणों का भंडार है - निसर्गत (eternally) दृश्यमान होती है ।

(मूल अंग्रेजी का अनुवाद - श्री राम सागर लाल,गोरखपुर द्वारा)

विवेक विचार विवेचन

मानस मन्थन और 'निजस्व' बोध

इस पृथ्वी का नाम 'काल देश' है, क्योंकि इसका समस्त नियमन काल (समय) की गति के अनुसार संचालित है। 'मानव' इस कालदेश का विकसित प्राणी है। मानव की गतिविधि भी 'काल' के अनुसार चलती है। काल सतत चालन (गति) है - इसमें कहीं विराम नहीं है, इसलिए समझने के लिए विद्वानों ने भूत, वर्तमान और भविष्य काल आंक लिए हैं, अन्यथा मूल रूप से वही कालचक्र चल रहा है। ऐस गणनात्मक उड़न में 'वर्तमान' का आधार या उदगम 'भूत' है, और 'भविष्य' का पितृत्व 'वर्तमान' और आदि कुटुम्ब 'भूत' है।

कालदेश में - इस प्रकार दृष्ट 'क्रियाशीलता' का 'कारण-आधार' गत विगत संस्कार हैं। अर्थात् वे संस्कार जो 'भूत' रहे थे, वही बीज रूप में 'वर्तमान' में बरते गए, एवं श्रंखला में; भविष्य में भी उसी बीज रूप से उगे रहते हैं। फलतः एक ही गत भूत को वर्तमान में भोगा एवं उसी गत को पुनः भविष्य कहाने वाले काल में भी भोग रहे हैं - यह गतिक्रम सतत चालू है।

जीवन का आधार गतिमानता है - अर्थात् 'घटना' से तरंगित अगली घटना का उदय होता है, फलतः घटना से घटना पर सतत चलना-बढ़ना जीवन है और इसी क्रम के कारण परिवर्तनशील है। इस समस्त क्रिया के निष्कर्ष का नाम 'संस्कार' है - जिसकी बैठक स्मृति पटल पर है। इसी प्रकार एक 'स्मृति' से दूसरी 'स्मृति' में विचार का तरंगित चलना 'मन' है, अर्थात् मन संचारण में भी निरन्तरता है, इसका सूक्ष्म विकास क्षेत्र चैतन्य संचारित 'चेतना' है।

" समस्त-परम्-सूक्ष्म-चैतन्य-शक्ति " को मात्र समझने के लिए शब्द 'परमात्मा' है - इस ही के सूत्र में - जीवन गति को ओढ़े संज्ञा का नाम 'जीवात्मा' है। मानव व्यक्ति की इस आवरणित दशा के पीछे जो 'सूत्रपन' है, वह 'अहम' - आत्मपन है, जिसे व्यक्ति यदि विचारे तो अलक्ष्यवत है। इसे अपने स्वरूप का 'संधान' विषय आध्यतम है।

हज़ारों वर्षों की संस्कृतियों के संस्कारों से निकला व्यक्ति साधक उन अनुभूत स्मरणों को सरलता से भुला नहीं पाता, जो उस पर किसी न किसी रूप से लदे आ रहे हैं। उसने अपने आप की पात्रता के 'निजस्व' को भी पूरी स्पष्टता से अभी अनुभव नहीं किया है, इसलिए वह

'गत' को शंका के वातावरण में त्याग नहीं पा रहा है; उधर वर्तमान या भविष्य से तो 'व्यक्तिसाधक' परिचित सा भी नहीं है। फलतः संदिग्धता के द्वन्द में खड़ा है, अशक्त हो चला है, भयातुर है, यही विडम्बना चहुँदिश छायी है।

इसी भ्रम की उथलपुथल से हम घिरे हुए हैं। इस दशा में रहते हुए 'समग्र' को क्या, कैसे जान सकें, यही समस्या है जो हमें भयातुर बनाये है। जब तक 'भय या निर्भय' की स्थिति में हम डॉवाडोल अनिश्चय की स्थिति में फंसे हैं, तब तक नैसर्गिक 'अभयता' अनुभव नहीं होगी, अर्थात् परम 'स्वातंत्र्य' नहीं हो पाता। फलतः मानसिक द्वन्द छाया ही रहता है, तो उन्मुक्त 'प्रबुद्धता' (स्वतंत्र चिंतन) अभी दूर है। ऐसा क्यों? क्योंकि अपने स्वयं का प्रयास इस और चला ही नहीं, इसलिए जहाँ हम 'गतविगत' से छूट नहीं पाये, वहीं 'अज्ञात' (आगामी) से भी घबराये हुए हैं। बिखराव से समग्रता की और बढ़ना शांति-पथ है।

जो कुछ भी पौस्तिक साहित्य, धर्म या दर्शन ग्रंथों में साक्षात् अनुभूति द्वारा ज्ञान के इच्छुक जिज्ञासु के समक्ष है (या सुना है) उसने भी उसने मात्र पढ़ा या सुना भर है, उसे निज मनन के मन्थन प्रयोग में अभी नहीं लाया है। फलतः वह पुस्तकीय ज्ञान का सार व्यक्ति में उसकी निजी अनुभूति नहीं बन सका। क्योंकि हमने जो पढ़ा वह पठित जानकारी तो, उस पुराने सम्बंधित, हम से पृथक किसी और की है, अपनी नहीं। इस प्रकार साहित्यिक पठित ज्ञान से हमें उन 'पृथक-अन्यों' के विषयों पर मात्र झलक सी मिली। फलतः अपने निजी यत्न द्वारा 'आत्मता' की जानकारी नहीं मिली कि 'हम या मैं या निजस्व; वास्तव में क्या है? इस समझ को पाने के लिए हमें अपना 'परीक्षण विकास' और विचार मन्थन नित्य करना होगा। यह सब आत्म ज्ञान की खोज प्रक्रिया एवं निष्कर्ष गहरे ध्यान में ही हो पाता है कि जब हम गत या आगत के 'संशय-सम्बन्ध' से अलग होकर अनुसन्धान करें, प्रयास करें, अभ्यास करें।

जब टूटन आवे भी, तो अपने अन्तर के 'निजस्व' से सहारा मांगें, वही 'निजस्व' वाह्य जगत में मार्गदर्शक बन जाता है। अन्तर का 'निज', वाह्य का 'स्वत्व' जब गुरुता से ऐक्य कर पाते हैं - अर्थात् गुरु द्वारा आत्मिक ज्ञान एवं सांसारिक दिशा बोध का सहारा प्राप्त करते हैं, तब आवाज़ निकलती है -- **जिसने दिया है दरदेदिल, उसका खुदा भला करे। अवतु माम अवतु**

वक्तारम।

--जयनारायण गौतम, अहमदाबाद राम सन्देश : अक्टूबर १९९३

मनुष्य बनें - पाँचों तत्वों की महिमा जानें

परम पिता परमात्मा की असीम कृपा हुई तब जीव को मनुष्य शरीर मिला । - ' बड़े भाग्य मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सब ग्रंथहि गावा । '

मनुष्य तन में ही ईश्वर अपने को छिपाये हुए है, अतः हमें उसको प्रगट करना ही मनुष्य बनना है । मनुष्य अपने को पहचाने, क्यों भूल गया है, याद करे अपने आपको कि वह कौन है । ईश्वर ने मनुष्य को अपने जैसा ही बनाया है । उनका (ईश्वर का) अंश मनुष्य के अन्दर है। भगवान शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि का रूप मनुष्य जैसा है जो देखने में विश्वास दिलाता है कि मनुष्य भगवान का ही रूप है। जैसे समुन्द्र और एक छोटे से गढ़े का जल तथा जल की एक बूँद ।

रामायण में है - 'ईश्वर अंश जीव अविनासी' इसलिए जो गुण भगवान का है वही गुण मनुष्य में भी है । जैसे ज्वलित अग्नि और माचिस (दियासलाई) की एक तीली । भगवान के गुण हैं - क्षमा-दया-करुणा-सहनशीलता-प्रेम-आनन्द-सरलता-समता, वगैरह । ये सभी ऐसे गुण हैं जो मनुष्य में भी हैं । मनुष्य अपने इन सभी गुणों को भूले हुए है । इसी भूल के कारण मनुष्य दुःख का अनुभव करता है ।

सांसारिक सुख की चाहना और प्रलोभन के कारण मनुष्य अपने गुणों को भूल गया है । ' माया मोह ममता के कारण बारम्बार ठगाया जी '। यही जनम मरण का कारण है । इसी के चक्कर में पड़कर मनुष्य अपने असली परमपिता परमेश्वर के पास नहीं पहुँच पाता है । संतों ने कहा है कि दयाल देश ही मनुष्य का अपना असली घर है, जहाँ परमपिता परमेश्वर है ।

तोहें दिहें गुरु जब ज्ञान, धरोगे ध्यान, मिटे अभिमान
दीनता आवे, तब सत्यलोक नित आवे और जावे
जहाँ वाद न विवाद, जहाँ से फिर जगमें नहीं आवे,
वा घर के सुधि कोई न जतावे, यह जीव कहाँ सेआया जी !!

इसको याद दिलाने के वास्ते परमपिता परमेश्वर हज़ार से दो हज़ार वर्षों में संसार में मनुष्य रूप में आते हैं जो सतगुरु कहलाते हैं। रामायण में इसी तथ्य को गुरु वन्दना के रूप में कहा है -

बन्दों गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरी !!

ये सद्गुरु समय -समय पर हम सभी भूले भटके जिज्ञासुओं को इकट्ठा करके अपने उपदेशों के द्वारा ईश्वर के गुणों को याद कराते रहते हैं ताकि हम (मनुष्य) भी यही गुण अपनायें ।

इन गुणों को पूर्ण रूप से याद करते रहने से ही हम अपने परमपिता की नज़दीकी पा सकते हैं। इन गुणों को याद करने को साधना या अभ्यास कहते हैं, चिंतन, ध्यान-सुमिरन भी कहते हैं। ईश्वर का चिन्तन, ध्यान अथवा सुमिरन एक क्षण को भी न भूलें। कवि ने कहा है -

राम जी को न बिसारो एको घड़ी,

कर से कर्म करो विधि नाना, मन राखो जहाँ कृपा निधान !!

हम सभी अपने आपको तथा अपने असल घर को भूलकर भव-सागर रूपी दुनियाँ में तैर रहे हैं और नाना प्रकार के कष्टों का सामना कर रहे हैं। हम इस कष्ट से निकलना चाहते हैं । कोई उपाय न देख कर रुदन करते हैं । परमपिता परमात्मा से अपनी सन्तान का कष्ट सहन नहीं होता है । तब दया करके मनुष्य तन (शरीर) दे देते हैं। क्योंकि इस भवसागर(दुःख - सागर) से पार होने को नर शरीर ही नौका है जिसमें जीव सवार है। और शरीर-रूपी नौका में बुद्धि रूपी पतवार लगा हुआ है। अब इस बुद्धि द्वारा शरीर रूपी नौका को चला कर भवसागर से पार होना ही वास्तव में मनुष्य बनना है ।

मानव-शरीर जिसमें आत्मा की स्थिति है और जो परमात्मा का मन्दिर है, उसका निर्माण पंच तत्वों के सम्मिश्रण द्वारा हुआ है । और इन पाँच तत्वों में प्रभु के सभी गुण भरे हैं, शक्तियाँ परिलक्षित होती हैं । इन्हीं का विवरण नीचे दिया जाता है :-

छति जल पावक गगन समीरा

पाँच तत्व यह अधम शरीरा

(१) पृथ्वी तत्व - छति को पृथ्वी कहते हैं जिसे धरती माता भी कहते हैं । माता का गुण हममें है, हम भूले हुए हैं। धरती माता को हम सभी कुदाल से कोरते हैं, हल से जोतते हैं,

उनके सारे शरीर को कष्ट देते हैं। पानी के वास्ते उनके सीने में बड़ा पाइप घुसा कर पानी निकलते हैं जिससे खेत की सिंचाई या पीने के वास्ते पानी निकालते हैं। उसी पानी से धरती माता अन्न, फल फूल, खाने का सामान तथा अपने पेट से कोयला, लोहा, अबरख व सब सामान हमारे सभी के पोषण के लिए देती है। माता कितनी दयालु है। जो पुत्र उनको नाना प्रकार से कष्ट देता है, सारे शरीर को फाड़ देता है, फिर भी दयालु माता हर तरह से उसकी सेवा और संतुष्टि ही करती है - कितना पवित्र माँ का गुण है। तो माँ का गुण बच्चे में भी तो होना चाहिए। हम सभी यथार्थ को भूले हुए हैं, उसे याद करना ही मनुष्य बनना है।

(२) **जल तत्व** - जल कितना स्वास्थ्य कारक और जीवन के लिए अनिवार्य एवं सुखदायी तत्व है। जल निर्मल शीतल है, प्यास को मिटाता है, भोजन को पकाता है। शरीर को धोता है। जल का अंश हमारे शरीर के अन्दर खून के रूप में है जिससे हम सभी जीवित रहते हैं। जल वर्षा के रूप में बरस कर सिंचाई कराता है - अन्न, फल फूल उपजाकर हमारे जीवन का पालन-पोषण करता है। जल में भी परमात्मा का रूप है। जल का यह सब गुण हमारे शरीर में भी है। हम उसे भूले हुए हैं। यह सत्य याद करना ही मनुष्य बनना है।

(३) **पावक तत्व** - पावक अग्नि को कहते हैं। अग्नि का गुण है कि गन्दी चीजों को जला कर वातावरण को पवित्र बनाना। अग्नि का अंश हमारे शरीर में है जो भोजन पकाती है। शरीर को गर्म रखती है जिससे हम सभी जीवित रहते हैं। अग्नि वस्तुएँ पकाती है, रौशनी देती है। बड़े-बड़े कल कारखाने बिजली का रूप होकर चलाती है। कितने सुन्दर गुण हैं। जब हममें अग्नि अंश है तो उसके गुण भी हम में हैं। हम सब भूले हुए हैं। अग्नि का रंग लाल है। संत महात्मा लाल (गेरुआ) रंग का कपड़ा पहनकर अपने को अग्नि का रूप जतलाते हैं। अग्नि के इन गुणों को याद करना ही मनुष्य बनना है।

(४) **गगन तत्व** - गगन को आकाश कहते हैं। आकाश पूर्ण स्वच्छ सारे संसार में एक समान दिखाई देता है। जहाँ से भी देखें कहीं। न ऊँचा, और न कहीं नीचा, केवल समता गुण को प्रकाशित करता है। यह गुण आकाश का है और हममें आकाश तत्व है। तो हममें समता का गुण है। हम सब इसे भूले हैं। इसे याद करना ही मनुष्य बनना है।

अपना सा दुःख सबका जानें, ताहि मिलें अविनाशी !

अपना नियर जब सबके समझब तब नियरे चली जाईब !!

(५) **समीर तत्व** - समीर हवा, वायु को कहते हैं। हवा ठंडापन प्रदान करती है। हवा से ही सारे प्राणी जीवित रहते हैं। जीव जंतु, पेड़ पौधे सभी का प्राण हवा ही है। जब हम सब गर्मी से बेचैन होते हैं तब हवा अपने ठंडा करने के गुण से हमारे तपन और गर्मी को मिटाकर शान्ती प्रदान करती है। हवा शरीर का मुख्य तत्व है।

हवा हमारी हर सांस में काम करती है, जिससे हम जीवित रहते हैं। हवा की मदद से ही हमारे शरीर का खून चलायमान रहता है। खून की चाल बंद हो जाने पर हम मृत्यु को प्राप्त होते हैं। हवा का गुण है सेवा करना, बदले में कुछ नहीं लेना। हवा हमारे शरीर की गन्दगी को बाहर करती है, बाहर से स्वस्थता को शरीर के अन्दर पहुँचाती है, जिससे हमारा मन प्रसन्नता का अनुभव करता है। हवा हमारे शरीर का तत्व है। जो गुण हवा का है वह गुण हम सभी में है। हम सब भूले हुए हैं। उसे याद करना ही मनुष्य बनना है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकृति के यही पाँचों तत्व हर जीव, प्राणी, पेड़-पौधों, लता, फूल, आदि सभी में हैं। कुछ कुछ अन्तर होता है। किसी में पाँच, किसी में चार-चार, किसी में तीन-तीन, किसी में दो-दो, किसी में एक-एक हैं। सिर्फ मनुष्य में ही पाँच तत्व हैं। इसीलिए मनुष्य में अधिक ज्ञान-बोध एवं बुद्धि है तथा परमपिता के दरबार में पहुँचने का अधिकार है।

अतः मनुष्य होने के नाते हमें चाहिए कि हम इन तत्वों के गुणों को याद करें और गुरुदेव से मदद मांगें जो हम सबका धर्म है जिससे हम अपने प्रभु के धाम पहुँच पाने में सफल हो सकें। गुरु ही वह महान हस्ती है जिनके द्वारा हमें यह सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है-

बिनु गुरु होंहि न ज्ञान, गावें वेद पुराण !

राम सन्देश :अगस्त १९९१

अवधेशगिरि, मुज़फ़रपुर

ज़िक्र और फ़िक्र (जाप एवं ध्यान)

ज़िक्र और फ़िक्र दोनों शब्द उर्दू भाषा में अरबी भाषा से आये हैं। ज़िक्र का अर्थ जाप और फ़िक्र का अर्थ विचार अथवा ध्यान से है ।

हमारे श्रीमान लाला जी महाराज (ब्रह्मलीन परमसन्त श्री रामचन्द्र जी महाराज) की ही परम्परा के एक बड़े संत हुए हैं। अपने एक बार अपने एक वरिष्ठ शिष्य से प्रश्न किया, " बेटे, यह बतलाओ कि दिल बड़ा है या दिमाग ?"

ये शिष्य प्रशासनिक सेवा के एक बड़े अधिकारी थे और उस समय कार्यरत थे। आपने थोड़ा विचार करके उत्तर दिया, " हुज़ूर, मेरी समझ में तो दिमाग बड़ा है।" सम्भवतः सभी इस प्रश्न का यही उत्तर देते ।

पुनः प्रश्न हुआ - " दिमाग खराब हो जाय तो क्या होता है ?"

उत्तर - " हुज़ूर, आदमी पागल हो जाता है ।"

प्रश्न - " और दिल खराब हो जाय तो क्या होता है । ? "

उत्तर - " हुज़ूर, आदमी मर जाता है ।"

प्रश्न - " तो बेटे, कौन बड़ा हुआ ?"

उत्तर - " हुज़ूर, इससे तो यही लगता है कि दिल बड़ा है।

आपने फ़रमाया " बेटे, दिल बादशाह है और दिमाग उसका वज़ीर है।

हमारे पाठकों को अवश्य ही यह उत्सुकता होगी कि यह प्रश्नकर्ता कौन महापुरुष थे ? प्रश्नकर्ता तो परमसन्त सद्गुरु हाज़ी मौलाना नबाब अब्दुल ग़नी खां साहिब, भोगांव निवासी, थे जो श्रीमान लालाजी महाराज के चाचा -गुरु थे तथा उनके शिष्य श्री कैलाश नाथ भटनागर - पी०सी०एस० के वरिष्ठ अधिकारी थे जो सन १९७२ से रिटायर्ड हुए और लखनऊ में निवास करते थे। यह घटना उन्हीं की बतलायी हुई है ।

हमें देखना चाहिए कि हमारे गुरु भगवान श्रीमान लाला जी महाराज इस विषय में क्या आदेश देते हैं। आपके एक लेख का अंश है -

१) फ़िक्र (विचार अथवा ध्यान) करने वाले का साथी नफ़स (मन) है और ज़िक्र (जाप) करने वाले का साथी मालिके कुल (सबका स्वामी) है ।

२) फ़िक्र में इधर-उधर भटकाव हो सकता है और हो जाता है क्योंकि इसमें दखल मन, बुद्धि, अहंकार का है जब कि ज़िक्र (जाप या शब्द) में डोरे जैसा लगाव सिर्फ परमात्मा का ही है क्योंकि वह धुर पद से सम्बन्ध रखता है। और इससे धोखा मुश्किल से होता है ।

३) विचार शक्ति तो बुद्धि तत्व से आयी है और शब्द धुर भण्डार से ।

४) फ़िक्र से ज़िक्र को ज़्यादा वक़्त और तरतीब (श्रेष्ठता और वरिष्ठता) है क्योंकि जाप और शब्द मालिके-कुल का गुण है जबकि फ़िक्र ऐसा नहीं है ।

५) ज़िक्र, फ़िक्र के ताबेह (निर्भर) नहीं है पर फ़िक्र ज़िक्र के ताबेह है ।

हृदय, (दिल, अथवा सूफ़ी भाषा में 'क़ल्ब') की वरिष्ठता उपरोक्त दोनों ही परमसंतों के शब्दों से इतनी स्पष्ट है कि किसी को भी इस पर सन्देह करने का कारण नहीं बनता। अतः हम सभी को हृदय के जाप को इस प्रकार अपनाना चाहिए कि २४ घंटों में एक क्षण भी इस जाप से ख़ाली न रहें । अभ्यास तथा गुरु-कृपा से यह सम्भव और सरल हो जाता है ।

ध्यान, समाधि आदि के पीछे पड़े रहना साधकों के लिये सही दिशा नहीं है। वह स्थिति तो जाप के परिवक्व होने पर स्वतः ही आ जायेगी तथा फिर उसमें किसी प्रकार के भ्रम, भटकाव का भी भय नहीं रहेगा ।

गुरुदेव हम सबका कल्याण करें ।

-- डॉ। हरनारायण सक्सेना, जयपुर

राम सन्देश : अक्टूबर १९९३

कल्याण मार्ग : मन को भक्ति में लगाओ

मन को केवल एक ओर ही लगाया जा सकता है - भक्ति में अथवा विषयों में। अब यह मनुष्य के ऊपर निर्भर है कि वह मन को जिधर चाहे लगाए। किन्तु यह निश्चित है कि भक्ति अथवा विषय विकार - इनमें से जिधर भी मनुष्य मन लगाएगा, उसी के अनुसार उसे फल भी प्राप्त होगा।

कबीर मन तो एक है, भावें जहाँ लगाय !

भावें गुरु की भक्ति कर, भावें विषय कमाय !! - संत कबीर

परन्तु परिणाम दोनों का भिन्न-भिन्न है। भक्ति में मन लगाने का फल यह होगा कि हमारा यह जीवन भी सुख, आनन्द तथा शान्तिपूर्वक व्यतीत होगा और हमें जन्म-मरण के चक्र से भी सदा -सर्वदा के लिए मुक्ति मिल जाएगी। इसके विपरीत, विषय-विकारों की ओर मनोवृत्ति का झुकाव होने के परिणाम स्वरूप इस जीवन में भी सदैव दुःख, अशान्ति आदि का शिकार होना पड़ेगा और चौरासी के चक्र में फँस कर जन्म-जन्मान्तर तक नीच योनियों में भी भ्रमण करना पड़ेगा जहाँ अनन्त नारकीय कष्ट-क्लेश सहने पड़ेंगे।

कहने का अभिप्राय यह है कि भक्ति में मन लगाने से लोक-परलोक संवर जायेंगे, जबकि विषय-विकारों में मन फँसाने से लोक और परलोक - दोनों ही बिगड़ जायेंगे। उदाहरण हमारे सामने है - विभीषण ने विषय-रसों से किनारा करके भक्ति में अपना मन लगाया और प्रभु-चरणों से चित्त जोड़ा, फल यह हुआ कि उसके दोनों लोक सुधर गए। इसके विपरीत रावण ने भक्ति से मुँह मोड़कर, विषय-विकारों में फँस कर, अपना लोक और परलोक - दोनों बिगाड़ लिए।

अब मनुष्य स्वयं ही अपने हृदय में विचार करे कि मन को किस तरफ लगाने में उसका लाभ है और किस ओर लगाने में उसकी हानि है। मन को भक्ति की ओर लगाने में सुख, आनन्द, शान्ति तथा आवागमन के चक्र से मुक्ति है, जबकि विषय-विकारों तथा शरीर-इन्द्रियों के भोगों में लगाने से दुःख, अशान्ति तथा जन्म-मरण का बन्धन है।

जिस मनुष्य को सौभाग्य से संतों, महापुरुषों की संगति प्राप्त हो जाती है, जो सत्संग के प्रकाश में आ जाता है वह कभी घाटे वाला सौदा नहीं करता। सत्संग अथवा सत्पुरुषों की संगति प्रकाशरूप है, क्योंकि इसमें आने पर मनुष्य को सत्य-असत्य, हित-अहित। लाभ-हानि की भली भाँति परख पहचान हो जाती है। सत्संगति के अतिरिक्त संसार में हर ओर मोह-अज्ञान का निबिड़ अन्धकार छाया हुआ है। इसीलिए संतों ने सत्संग के प्राप्त हो जाने को सौभाग्य का चिन्ह बतलाया है, जैसा कि कथन है -

साध संग में चांदना , सकल अँधेरा और !

सहजो दुर्लभ पाइये, सत्संगत में ठौर !!

- सहजोबाई

जो सौभाग्यशाली मनुष्य सत्संगति के प्रकाश में आ जाता है और जिसे हानि-लाभ को परखने वाले विवेक चक्षु प्राप्त हो जाते हैं, वह भूलकर भी अपने मन को विषयों की ओर आकर्षित नहीं होने देता, क्योंकि वह इस बात को अच्छी तरह जानता है कि संसार के विषय-भोग विषतुल्य हैं, जिनमें मन फँसाने के परिणामस्वरूप केवल इस जन्म में ही नहीं, अपितु अनेकों जन्मों तक दुःख-कष्ट भुगतने पड़ेंगे। जैसा कि सत्पुरुषों ने फ़रमाया है -

निमख काम सुआद कारणि, कोटि दिनस दुःख पावहि !

घरी मुहत रंग माणहि फिरि , बहुरि बहुरि पछुतावहि !!

- रबानी

अर्थात् - पल भर के काम सुख के लिए जीव लाखों दिन तक दुःख पाता है। घड़ी दो घड़ी मौज करता है , उसके बाद अत्याधिक पश्चाताप करता है।

संसार में तो हर जगह विषयभोगों के सामान फैले हुए हैं जो कि जीव को आकर्षित करते हैं। आम संसारी मनुष्य, जिसे सत्पुरुषों की संगत प्राप्त नहीं है और जो विवेक की आँख से वंचित है, वह तो उनकी मनमोहकता पर मोहित होकर उनकी ओर आकर्षित हो जाता है, परन्तु सत्संगी-जन उनकी वास्तविकता को जानते हुए उनकी ओर से अपने मन को सदा रोके रखते हैं

कि :-

नारि पुरुष सब ही सुनो, यह सतगुरु की साखि !

विष फल भले अनेक हैं, मत कोई देखो चाखि !! - कबीर

परमसन्त कबीर साहब फरमाते हैं कि सब कोई संत सद्गुरु के इस उपदेश को सुनो कि संसार रूपी उपवन में विषय-विलासता के सामानों के फल, फूल और रस (घोड़े आदि वाहनों का रस, कोमल सेज का, मांस-मदिरा का तथा कंचन -कामिनी का रस, इत्यादि अनेक प्रकार के रसभरे फल तो हैं, परन्तु इन रसों को भूल कर भी न चार्खें) जब तक मनुष्य का मन और शरीर, इन्द्रियों के इन विभिन्न रसों में आसक्त है, तब तक भक्ति का अलौकिक रस मन में कैसे समां सकता है ?

यदि परमार्थ और परख की दृष्टि से देखा जाये तो पता चलता है कि लुभावने तथा चित्ताकर्षक प्रतीत होने वाले इन अनगिनत माया के पदार्थों अथवा शरीर इन्द्रियों के भोगों में रस अथवा आनन्द तो नाममात्र को भी नहीं है। यह तो मात्र मनुष्य का भ्रम है जो वह इनमें सुख की प्रतीति करके इनकी ओर आकर्षित होता है, इनमें अपना मन लगाता है और इनके पीछे भागता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का मन अनेक जन्मों से ऐन्द्रिक विषयों का रस लेने का अभ्यस्त है, इसीलिए वह इनमें आनन्द मानकर बार-बार इनकी ओर लपकता है और रोकने पर भी नहीं रुकता ।

पटकि पटकि सिर सुन्दर जु मानि हारि,
फिटकि फिटकि जाइ सूधो कौन बातु है !
देखिबे कूँ दौरे तौ अटकि जाइ वाही ओर,
सूँघिबे कूँ दौरे तौ रसिक सिरताज हैं !
सूँघिबे कूँ दौरे तौ अघाय न सुगंध करि।
खाइबे कूँ दौरे तौ न धापै महराज है !
भोगही कूँ दौरे तौ तृप्ति नहीं होइ क्यूँ ही ,
' सुंदर ' कहत याही नेक ही न लाज है !
काहू को न कहयौ करै आपनो ही तक धरै।
मन सो न कोऊ हम देख्यो दगाबाज़ है !! - संत सुन्दरदास

भक्तिमान मनुष्य को इस तथ्य को भली भांति समझकर विषय विलासता के सामानों तथा इन्द्रियों के भोगों से सदा दूर ही रहना चाहिए, क्योंकि इससे वृत्ति बहिर्मुखी होती है,

नाम सुमिरण में मन नहीं लगता, जिससे भक्ति की अनमोल निधि का घाटा होता है। यदि मनुष्य यह चाहे कि वह भक्ति के रस का आनन्द भी ले ओर विषय रस भी न छोड़े, तौ ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं है। जैसे एक बर्तन में अमृत तथा विष साथ-साथ नहीं रखे जा सकते, उसी प्रकार नाम तथा भक्ति, जो अमृततुल्य है, ओर विषय रस, जो विषतुल्य है - एक ही मन में नहीं रह सकते। सत्पुरुषों के वचन हैं -

रसु सुइना रसु रुखा कामणि रसु परमल की वासु !!
 रसु घोड़े रसु सेजा मंदर रसु मीठा रसु मासु !!
 एते रस सरीर के कै घटि नाम निवासु !! - गुरुवाणी

किन्तु इस दगाबाज़ मूज़ी मन को विषयों की ओर जाने से हर स्थिति में रोकना चाहिए। उसकी एक भी न माननी चाहिए। मन के कहने पर चलकर ओर विषयों में आसक्त रह कर तो जीव पहले ही बहुत दुःख कष्ट सहन कर चुका है ओर अनेकों जन्म नष्ट कर चुका है। यदि अब भी इसी धोखे में पड़ा रहा ओर मन का परामर्श मानता रहा तो उसे भारी हानि का सामना करना पड़ेगा। अर्थात् चौरासी के चक्कर में फंस कर बार-बार जन्म ओर मृत्यु को प्राप्त होना पड़ेगा। इसलिए सत्पुरुषों का उपदेश है कि :-

कहत 'कबीर' छोड़ि बिखियाँ रसु, इतु संगति निहचउ मरणा !
 रमईया जपहु प्राणी अनतः जीवण वाणी , इन विधि भवसागरु तरणा !!

- गुरुवाणी

कबीर साहब का कथन है : " हे प्राणी ! रसों का त्याग कर दो, इनकी संगति करने से तो निश्चित रूप से आत्मिक मौत है, अर्थात् नीच योनियों का शिकार होकर बार-बार मरना है। इसलिए विषय-रसों का त्याग करके तुम परमेश्वर के नाम का स्मरण करो। वही अनन्त जीवनदायी शक्ति है ओर उसी से संसार-सागर से पार हुआ जा सकता है। यही है कल्याण मार्ग ।

प्रेरक प्रसंग

प्रार्थना हृदय को शक्ति प्रदान करती है

प्रार्थना द्वारा भगवान से सहज में सम्पर्क हो जाता है। प्रार्थना करते समय जब आप अपने हृदय को ऊँचा उठाकर ईश्वरोन्मुख करते हैं तो सबसे पहले आप अपने को उसके निकट पाते हैं। फिर आपका उससे सम्पर्क होने लगता है और धीरे-धीरे एक दिन वह आता है जब आप अपने को उसमें लय कर देते हैं। आपका मन जो सांसारिक भली-बुरी वासनाओं से परिपूर्ण है, प्रार्थना द्वारा शुद्ध होने लगता है। और आपका ध्यान संसार की बातों से सिमटकर एकाग्रता के साथ ईश्वरमुखी होने लगता है। दीनता और समर्पण की भावना आपके हृदय में जाग्रत होने लगती है, आपके मन की कठोरता पिघलने लगती है और आप उस श्रोत में समा जाते हैं जहाँ से आपका उदगम हुआ है। प्रार्थना आपके हृदय को शक्ति देती है, उसे बलवान बनाती है, और उसे आनन्द से भर देती है। वह आपको सिखाती है कि किस प्रकार साहस और धैर्यपूर्वक आपत्तियों का सामना करो और आपके हृदय के भीतर में जो छिपी हुई ईश्वरीय शक्ति का भण्डार है, उससे किस प्रकार ज्ञान और शक्ति प्राप्त करो।

सच्चाई को समझो

यह नितांत सत्य है कि संसार में जो कुछ होता है वह ईश्वर की इच्छा के बिना नहीं होता। ईश्वर की शक्ति अनंत और अपार है। अपने आपको उस शक्ति के समर्पण कर दो और उसे अबाध रूप से अपना कार्य करने दो। इससे आप स्वयं उन्नति करेंगे और दूसरों को भी सुख मिलेगा। होगा वही जो ईश्वर करेगा। यदि उसकी शक्ति के काम में बाधक बनोगे तो सिवाय दुखी होने के और कुछ हाथ नहीं आएगा। इसलिए सच्चाई को समझो और ईश्वर में भरोसा रखो कि वही तुम्हें सच्ची स्वतंत्रता और शान्ति दे सकता है। उसकी खुशी में खुश रहने की आदत डालो और अपनी नित्य की प्रार्थना में यह मनाते रहो कि हे प्रभु ! तेरी इच्छा पूर्ण हो ।

सच्चाई का मूल

आजकल झूठ बोलने का इतना रिवाज़ हो गया है कि इसको बुराई नहीं समझा जाता है। झूठ बोलने वाला सफाई देता है तो कहता है कि बिना झूठ के इस दुनियाँ में काम ही नहीं चलता। झूठ एक ऐसी सड़क है जो बिना रुकावट आदमी को बुराई और दुःख की तरफ़ बढ़ाये लिए जाती है। यह अवश्य है कि आदमी हर समय और हर वातावरण में सच्चाई पर स्थिर रहने में कठिनाई का अनुभव करता है, किन्तु यह भी सच है कि सच्चाई का रास्ता ही एक ऐसा रास्ता है जिसके बिना सच्ची शान्ति और सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जो इस मर्म को समझता है वह सच्चाई हेतु सब तरह के दुःख और मुसीबतें झेलता है और उनमें प्रसन्न रहता है। वह अपने अन्तर को स्वच्छ और शुद्ध रखता है। हमारे सामने ऐसी अनेक महान आत्माओं के उदाहरण हैं जिन्होंने सत्य के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया। यह बिलकुल ठीक ही कहा है कि सत्य ही परमेश्वर है। यदि परमेश्वर को जानना चाहते हो तो झूठ के रास्ते पर चलकर उसे नहीं जान सकते। ईश्वर की राह में सच्चाई पहली शर्त है। संसार के टुच्चे लाभ के लिए, छोटी-छोटी बातों में झूठ बोलकर आदमी अपने आपको ईश्वर से दूर लिए जा रहा है। इससे थोड़ी बहुत देर का सुख और अस्थायी शान्ति भले ही मिल जाती हो किन्तु इसका परिणाम तो दुःख और क्लेश ही है। सदा स्थिर रहने वाली शान्ति और आनन्द सच्चाई पर चलने, नेकी और ईमानदारी का जीवन व्यतीत करने से प्राप्त हो सकती है।

अभिमान अंधकारमय है

मनुष्य के हृदय सरोवर में जब ईश्वरीय प्रेम का कमल विकसित हो जाता है तो उसकी सुगन्ध में सब प्रकार का अभिमान धूल में मिल जाता है, चाहे वह विद्या का हो, धन-दौलत का हो और चाहे मान मर्यादा का हो। मनुष्य की आत्मा स्वयं प्रकाशित है, किन्तु अभिमान उसके ऊपर पत्थर की तरह बोझ बनकर बैठ जाता है, उसके प्रकाश को ढंक लेता है और उसे उन्नत नहीं होने देता। अभिमान अंधकारमय है और मनुष्य की सीधी-साधी ज़िन्दगी में असंतुलन और उथल-पुथल मचा देता है। जीवन के श्रोत को दूषित कर देता है और जितने सांसारिक व्यवहार हैं उन्हें बुराई से भर देता है। अतः यह आवश्यक है कि अभिमान का त्याग

कर दिया जाए। जब तक अभिमान शेष है, ईश्वरीय भावनायें मन में पैदा नहीं होंगी, भक्ति-भाव जाग्रत नहीं होगा।

अभिमान कैसे दूर हो ? जब ऊँट पहाड़ के नीचे आता है तब उसका अभिमान चूर होता है कि मुझसे भी बड़ा कोई है। अपने मन में ईश्वर का बड़प्पन हमेशा सन्मुख रखो। ईश्वर महान है, उसके गुण महान हैं और संसार में जो कुछ भी महान है, वह सब उसी के द्वारा महान किये जाते हैं। वही चाहता है तो महान बना देता है और जब चाहता है तो खाक में मिला देता है। वह सर्वशक्तिमान है, यह संसार, यह श्रष्टि, उसी ने बनाई है। सब चराचर और स्थावर जंगल उसी के बनाये हुए हैं।

जब मनुष्य उसकी महानता का अनुमान लगाने बैठता है तो वह अपने आपको ऐसा पाता है जैसे पहाड़ के सामने धूल का एक छोटा सा कण, समुन्द्र के सामने छोटी-छोटी बूँद। मनुष्य का जीवन एक छोटी सी चिनगारी की तरह है जो अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक है। इसके श्रोत पर अनन्त ज्वालामय ज्योति है जो महान से भी महान है और जो सदा प्रज्वलित होती रहती है। जिसमें अथाह और अपरिमित शक्ति भरी हुई है और जिससे सारी श्रष्टि और चराचर चलायमान हैं। वही सबमें गुप्त तथा प्रत्यक्ष रूप से संचरित है। जब मनुष्य इस बात को सोचता है तब उसे सच्चाई का अनुभव होने लगता है, हर जग, हर वस्तु में ईश्वर की महानता की झलक दिखाई देती है और तब उसका अभिमान, उसका अहंकार, चूर होने लगता है। उसे ज्ञान हो जाता है और एक दिन वह शान्ति तथा परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।

यह प्रत्येक मनुष्य जानता है कि यदि वह माया जाल और संसार के प्रपंचों से छुटकारा पाना चाहता है तो सबसे पहले अपने चित्त की चलायमान वृत्ति को स्थिर करे। मन में जो इच्छाएँ उठ रही हैं और जिन वासनाओं के फलस्वरूप ऐसा हो रहा है उनको काबू में करे। जिस मन में क्रोध का प्रकोप होता है वह कभी संतुलित नहीं रह सकता। जिस मन में ईर्ष्या भरी हुई है, वह मन रोगी है। जो मन लोभी और लालची है, देगची का उबलता हुआ दूध उसका उदाहरण है। उसकी भलाई इसी में है कि संसार के प्रपंचों से मुख मोड़ ले, अपनी वृत्तियों को अन्तरमुखी बनाये जहाँ परमेश्वर अपनी शान्ति और परमात्मा सहित सदा से विराजमान है और विषय-वासनाओं युक्त अनेक आचरणों के कारण उसकी झलक नहीं मिलती। जब हम अपने

मन को आत्मा में मिला दें और आत्मा को परमात्मा में, तो सब आवरण अपने आप फट जायेंगे और मन की उछल-कूद बन्द होकर ईश्वरीय प्रकाश का उदय होने लगेगा। जो मनुष्य सच्चाई और नेकी पर चलता है और धार्मिक जीवन व्यतीत करता है उसे जीवित रहते हुए ईश्वरीय आनन्द और शान्ति का लाभ प्राप्त होता है। मृत्यु के उपरान्त भी वह परमानन्द को प्राप्त होता है। अतः अपने मन को काबू में रखो और अन्तर्मुखी बनाओ, तभी सच्चा सुख और शान्ति मिलेगी ।

प्रत्येक परिस्थिति में ईश्वर के आश्रित रहो। मूढ़ विश्वासों को त्याग दो। दुनियाँ तुम्हारे विषय में क्या कहती है, इसकी चिन्ता मत करो। ईश्वर-भक्तों और संत-महात्माओं का सत्संग करो। अपने सम्पूर्ण हृदय से परमात्मा में विश्वास रखो और सब और से निश्चिन्त हो जाओ ।

इस बदलती दुनियाँ में कौन पैदा नहीं होता और कौन मरता नहीं ? परन्तु असल में जन्म उसी का सार्थक कहा जाता है जो अपनी जाति या वंश की भलाई करता है ।

सदाचारी पुत्र, अपने अनुकूल आचार-विचार वाली स्त्री, कृपा करने वाला स्वामी, प्रेमी मित्र, धोखा न देने वाले परिजन, क्लेश रहित मन, सुन्दर रूप, हमशा टिकने वाला वैभव और विद्या के प्रभाव से शोभा देने वाला चेहरा, आदि ये सब उन्हीं लोगों को प्राप्त होते हैं जिनपर भगवान प्रसन्न हो जाते हैं ।

राम सन्देश : मई-जून 2008

मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है या परतंत्र ?

(तत्व चिंतामणि भाग १ से सारांश)

हम एक तरफ़ यह कहते हैं कि 'संसार में कर्म ही प्रधान है, जो जैसा करता है उसे वैसा फल मिलता है।' दूसरी तरफ़ यह कहते हैं कि 'ईश्वर ही सबको बन्दर की तरह नचाते हैं।' इन दोनों मतों में परस्पर विरोध प्रकट होता है। यदि कर्म ही प्रधान है तो ईश्वर का बाज़ीगर की भाँति जीव को नचाना सिद्ध नहीं होता और न ईश्वर की कोई महत्ता ही रह जाती है। यदि ईश्वर ही सब कुछ करवाता है, मनुष्य कर्म करने में परतंत्र है, तो किसी के द्वारा किये गए बुरे कर्म का फल उसे क्यों मिलना चाहिए ? जिसने (ईश्वर ने) कर्म करवाया, फलयोग का भागी भी उसे ही होना चाहिए, पर ऐसा देखा नहीं जाता।

ऐसे प्रश्न प्रायः साधकों के मन में उठा करते हैं। इसका विवेचन करना आवश्यक है। जीव वास्तव में परमेश्वर और प्रकृति के अधीन है। कम से कम फल भोगने में तो वह परतंत्र है। धन, स्त्री, पुत्र, कीर्ति आदि का संयोग-वियोग कर्मफल परवश से है, इसमें कोई संदेह नहीं। नवीन कर्मों के करने में भी वह है तो परतंत्र लेकिन कुछ अंश में स्वतंत्र भी है, या यों कहें कि स्वेच्छा से वह अनाधिकार स्वतंत्र आचरण करने लगता है। इसी से उसे दंड का भोग भी झेलना पड़ता है।

बंदर बाज़ीगर के अधीन है, उसके गले में रस्सी बंधी है, मालिक के अनुकूल नाचना ही उसका काम है। यदि वह मालिक की इच्छानुसार नाचता है तो मालिक खुश होकर उसे अच्छा खाना दे देता है, अधिक प्यार करता है। यदि वह मालिक की इच्छा से उल्टा चलता है तो वह उसे मारता है, दण्ड भी देता है। परन्तु मारता हुआ भी भी वह यह नहीं चाहता कि उसका बुरा हो, क्योंकि इस अवस्था में भी बन्दर उसको खाने को देता है (उसकी आजीवका चलाता है) ॥

अपनी संतान के प्रति माता-पिता का बर्ताव इसी प्रकार का होता है। परन्तु माता-पिता का बर्ताव बाज़ीगर की अपेक्षा कहीं अधिक उँचा दर्ज़ा रखता है। बाज़ीगर का बर्ताव भूल पर दण्ड देते हुए भी पोषण करते रहना होता है जो केवल स्वार्थवश किया जाता है। दूसरी ओर माता-पिता अपने स्वार्थ के अतिरिक्त संतान का निजी हित भी सोचते हैं क्योंकि वह उनकी आत्मा है।

परमात्मा का दर्ज़ा तो उन दोनों से भी उँचा है, क्योंकि वह अहैतुक प्रेमी तो नितांत स्वार्थ शून्य है। वह जो कुछ भी करता है सब हमारे हित के लिए ही करता है। वास्तव में हम सर्वथा उसके अधीन हैं। तथापि उसने दयापूर्वक हमें सतकर्म करने का अधिकार दे रखा है। उसकी आज्ञानुसार कर्म करना ही हमारा वह अधिकार है। यदि हम उस अधिकार का उपयोग नहीं करते या कम करते हैं, तो प्रभु बड़े प्यार से हमारा दोष दूर करने के लिए दण्ड भी देता है। उसका दण्ड-विधान कहीं-कहीं भीषण प्रतीत होने पर भी दया और प्रेम से भरा होता है।

पुनः एक प्रश्न उठता है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर, मनुष्य को अपने अधिकार का अतिक्रमण अर्थात् सीमा को पार करने ही, क्यों देता है ? वह तो सर्व-समर्थ है, क्षण भर में अघटन घटना घटा सकता है, फिर वह मनुष्य को उसके अधिकारों की सीमा के बाहर दुष्कर्मों में प्रवृत्त ही क्यों होने देता है। इसका उत्तर हमें एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है।

किसी राज्य में अमुक व्यक्ति को कोई अधिकार राजा की ओर से इसलिए दिया गया कि वह अपने अधिकार के अनुसार प्रजा की सेवा करता हुआ राज्य का काम नियमानुसार करे। यदि वह सुचारुरूप से काम करता है, तो राजा प्रसन्न होकर उसे पुरुस्कार दे सकता है, उसकी पदोन्नति भी हो सकती है। और यदि वह अपने अधिकार का कुछ भी दुरुपयोग करे तो उस समय तो राजा या सरकार उसका हाथ पकड़ने नहीं आते। कार्य कर चुकने पर ही उसे उपयुक्त दण्ड मिलता है। इसी प्रकार परमात्मा ने भी हमें सतकर्म करने अधिकार दे रखा है, परन्तु हम दुष्कर्म करते हैं तो वह हमें ऐसा करने से रोकता नहीं, अपितु कर्म करने पर उस दुष्कर्म का यथोचित दण्ड देता है।

पुनः एक प्रश्न और उठता है कि इस जगत की सरकार या राजा तो सर्वज्ञ या सर्वव्यापी न होने से कानून तोड़ते समय अधिकार का दुरुपयोग करने वालों का हाथ नहीं पकड़ सकते

परन्तु परमात्मा जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और अन्तर्यामी है, उससे तो मनुष्य के मन या शरीर की कोई भी क्रिया छिपी हुई नहीं है। वह दुष्कर्म करने वाले मनुष्य को क्यों नहीं रोक देता। ऐसी स्थिति इसलिए है कि परमात्मा की विधि का विधान इस तरह रोकने का नहीं है।

परमात्मा ने मनुष्य को अपने जीवन में कर्म करने की स्वतंत्रता दे रखी है, पर साथ में कृपा करके उसे शुभाशुभ परखने वाली बुद्धि या विवेक भी दे दिया है, जिससे वह बुरे-भले का विचार करके अपना कर्तव्य निश्चय कर सके। और नियम यह भी है कि यदि कोई मनुष्य अनाधिकार, शास्त्र -विपरीत चेष्टा करेगा तो उसे दण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा ।

इससे यह सिद्ध होता है कि बाज़ीगर के बंदर की भाँति ईश्वर ही सबको नचाता है। सभी मानव उसके अधीन हैं परन्तु नाचने में मालिक की इच्छानुसार या प्रतिकूल नाचना बंदर के अधिकार में है। सरकार या राजा ने अधिकार दिया है परन्तु उन्होंने उसका दुरुपयोग करने की आज्ञा नहीं दी है। जब एक न्याय परायण राजा अपने किसी अफसर को अधिकार का दुरुपयोग करके पाप करने की आज्ञा नहीं देता, तो भला परमपिता-परमेश्वर ऐसी आज्ञा दे ही कैसे सकते हैं ? यह चिन्तन करने की बात है। अतः मनुष्य सर्वथा ईश्वर के अधीन है। साथ ही यह भी सत्य है कि यदि मनुष्य ईश्वर-प्रदत्त अधिकार का सदुपयोग करे तो वह परम् उन्नति और यदि दुरुपयोग करेगा तो अधोगति को भी प्राप्त हो सकता है ।

अंत में एक प्रश्न और उठता है कि भगवान की आज्ञा न होने और परिणाम में दुःख की संभावना होने पर भी मनुष्य भगवान् की इच्छा के विरुद्ध पापाचरण क्यों करता है ? विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अज्ञान से आवर्त होकर ही सब जीव मोहित हो जाते हैं। गीता का अध्याय ७/१५ देखें। प्रकृति के दो स्वरूप हैं - विद्यात्मक और अविद्यात्मक। अविद्यात्मक प्रकृति का स्वरूप अज्ञान है। इसी से अहंकार उत्पन्न होता है। शक्ति, सत्ता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि दोषों के वशीभूत होकर मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है।

महर्षि पातंजलि ने संसार की अविद्या के पाँच क्लेश बताये हैं। इन्हीं पाँचों से उत्पन्न कारणों से " अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (तीव्र मनोयोग) से मनुष्य परिणाम भूलकर पाप करता है, जिसका उत्तरदायी वह स्वयं है। अर्जुन ने भगवान् से गीता के ३/३६ श्लोक में पूछा कि पुरुष बलात्कार से लजाये हुए प्राणी के सदृश, बिना चाहे भी किससे

प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है ? इस पर भगवान् ने गीता के श्लोक ३/३७ में यह कहा कि " रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यही 'महाअशन' यानी अग्नि के सदृश भोगों से न तृप्त होने वाला बड़ा पापी है। इस विषय में तू इसको ही बैरी जान। इस काम रूपी बैरी का निवास इन्द्रियों, मन और बुद्धि में है । इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ही इसने ज्ञान को घेरकर जीवात्मा को मोहित कर रखा है ।"

अतः इनको वश में करके इस ज्ञान-विज्ञान के नाश करने वाले पापी काम को मारना चाहिए क्योंकि बुरे कर्म, अज्ञान-अविद्या जनित आसक्ति से या कामना से होते हैं। जो पुरुष इनके वश में न होकर भगवान् के दिए हुए अधिकार के अनुसार बर्तता है, वह यहाँ 'सर्व तो भाव ' से सुखी रहकर, अन्त में परम् सुखस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि मनुष्य कर्म करने में परतंत्र परन्तु ईश्वर द्वारा दी गयी स्वतंत्रता से कुछ अंश में, एक सीमा तक, वह स्वतंत्र भी है ।

- श्री फूलन प्रसाद वर्मा, मोतिहारी (बिहार)

राम सन्देश : जुलाई-अगस्त २०००

प्रेम की लीला

'प्रेम' शब्द तो छोटा सा है किन्तु है बहुत महत्वपूर्ण है। आध्यात्म-मार्ग पर चलने वालों के लिए तो यह और भी अधिक महत्व रखता है। संसार में प्रेम का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। हम सब देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी से प्रेम अवश्य करता है। यहाँ तक कि जानवर तथा पक्षी भी अपने सजातियों एवं बच्चों से प्रेम करते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक प्राणी के अन्दर प्रेम का श्रोत है जहाँ से यह प्रेम बाहर में किसी न किसी के प्रति उमड़ता है। इस प्रेम का श्रोत है 'आत्मा' (soul) जो कि 'परमात्मा' (SUPER SOUL) का एक अंश है। परमात्मा प्रेम का सागर है। कहा है कि ' ईश्वर प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है' (God is love and Love is God)। चूँकि आत्मा भी उस प्रेमपूर्ण परमात्मा का एक अंग है, आत्मा भी प्रेम से ओत-प्रोत है। आत्मा सभी के भीतर विद्यमान है। अतः यह स्वाभाविक है कि सभी के अन्दर से, कम या अधिक, प्रेम उमड़ता है और सभी लोग किसी न किसी से प्रेम करते हैं। वास्तव में प्रेम ही श्रष्टि का आधार है।

ईश्वर चूँकि प्रेममय है, इसलिए उसको 'प्रेमा-भक्ति' अधिक प्रिय है। जो भक्त ईश्वर से प्रेम करता है, ईश्वर-प्रेम में कुछ भी करने को तैयार रहता है, उसके लिए भगवान भी सब कुछ करने के लिए तैयार रहते हैं। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ भगवान ने नौकर के रूप में आकर भक्तों का पानी भरा है, कर्जा चुकाया है तथा अन्य कार्य किये हैं। भगवान ने तो यहाँ तक कहा है कि " मैं तो अपने भक्तों का दास हूँ। भक्तों के लिए ही मुझे भिन्न-भिन्न अवतार लेने पड़ते हैं, और जहाँ भी मेरे भक्त मुझे जिस रूप में चाहते हैं, उसी रूप में, उसी समय उस स्थान पर जाना पड़ता है तथा अपने भक्तों को संतुष्ट करना पड़ता है।" ब्रज की गोपियों के प्रेम का अद्भुत और अद्वितीय उदाहरण है जहाँ प्रेमवश भगवान को नाचना पड़ता था।

हज़रत ईसा मसीह ने लिखा है - "God is love, He who dwells in love, dwells in God and God in him" अर्थात् ईश्वर ही प्रेम है, जो व्यक्ति प्रेम में रहता है वह ईश्वर में ही निवास करता है और ईश्वर उसके अन्दर निवास करता है। संत कबीर दास जी कहते हैं -

" पोथी पढ़-पढ़ जगमुया, पंडित भया न कोय !

ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय !!

भावार्थ यह है कि केवल पुस्तकों के पढ़ने से ईश्वर का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। कितने ही लोग पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते मर गए किन्तु वे उस 'वास्तविक' ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सके। 'प्रेम' शब्द केवल ढाई अक्षर का है किन्तु जिसने अपने अन्दर ईश्वर का प्रेम उत्पन्न कर लिया उसको ईश्वर का ज्ञान हो गया तथा उसने ईश्वर को प्राप्त कर लिया। अब आप सोच सकते हैं कि यह छोटा सा शब्द 'प्रेम' कितना महत्वपूर्ण है, विशेषकर उनके लिए जो परमार्थ-पथ पर चल रहे हैं अथवा चलने के इच्छुक हैं।

संतमत के महापुरुषों ने प्रेम को अर्थात् 'प्रेमा-भक्ति' को उच्च स्थान दिया है। यहाँ तक कि उनके अनुसार प्रेमा-भक्ति ही ईश्वर-प्राप्ति का सबसे सरल उपाय है। ईश्वर अथवा गुरु में इतना प्रेम बढ़ाया जाये कि उस प्रेम में सब कुछ भूल जायें। सांसारिक कार्य केवल कर्तव्य रूप में करते रहें तथा हर समय परमात्मा के प्रेम में ही डूबे रहें। यह सबसे सरल साधन है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि हमारे अन्दर ईश्वर अथवा गुरु के प्रति इतना प्रेम उत्पन्न कैसे हो ? जन्म से तो बिरले ही ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके अन्दर ईश्वर के प्रति इतना प्रेम हो कि वे हर समय उसी प्रेम में मग्न रहें, मस्त रहें, डूबे रहें। अधिकतर साधकों की ऐसी स्थिति नहीं होती।

जब साधक यह देखे कि मेरे अन्दर ईश्वर अथवा गुरु के प्रति प्रेम नहीं उमड़ता या प्रेम की कमी है तो उसे वह अपनी ही कमी समझे। ऐसी स्थिति में प्रेम उत्पन्न करने अथवा बढ़ाने का यही उपाय है कि दोनों समय पूजा के अंत में भगवान से गिड़गिड़ाकर यही प्रार्थना करे कि " हे भगवान् ! तू मुझे अपना प्यार दे। मेरे अन्दर प्रेम उत्पन्न कर जिससे कि मैं हर समय तेरे प्रेम में ही डूबा रहूँ तथा संसार को भूला रहूँ ।" इस प्रकार की प्रार्थना अवश्य ही प्रभावकारी होगी तथा साधक के अन्दर धीरे-धीरे प्रेम उत्पन्न होने लगेगा और बढ़ने लगेगा।

प्रेम ऐसी वस्तु है जिसके बदले प्रेम ही मिलेगा। यदि आप अपने शत्रु से भी अपने मन से प्रेम करने लगें तो यह निश्चित है कि आपका शत्रु भी शत्रुता त्याग कर आपसे प्रेम करने लगेगा। जब सांसारिक व्यवहार में प्रेम का इतना प्रभाव है तो भगवान के साथ प्रेम का तो कहने ही क्या ? भगवान तो स्वयं प्रेम स्वरूप हैं, हमारे सबसे निकट हैं तथा अन्तर्यामी हैं। वह

प्रेमी साधक को प्रेम अवश्य देंगे। एक बार को सांसारिक पदार्थ देने में भगवान कृपणता कर सकते हैं , क्योंकि वह अच्छी तरह जानते हैं कि ये पदार्थ साधक के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले हैं, किन्तु प्रेमी साधक को अपने प्रेम देने में भगवान कभी कृपण नहीं हो सकते। जब सांसारिक माँ-बाप अपने बिगड़े हुए, पतित एवं दुर्गुणी पुत्र को भी प्यार दे सकते हैं तो भगवान तो सबसे बड़े माँ -बाप हैं। वह अपने प्यार को कैसे रोक सकते हैं ? प्रश्न केवल हमारा उनसे प्रेम माँगने का है कि हम सच्चे मन से केवल उनका प्यार ही माँगें। जब हमारा प्रेम ईश्वर अथवा गुरु में दृढ़ होता जायेगा तो धीरे-धीरे संसार की ओर से हमारा मन हटता जायेगा।

प्रेम के व्यवहार को पहले हमें अपने घर एवं परिवार से ही प्रारम्भ करना चाहिए। अपने घर का वातावरण प्रेममय बनायें, फिर पड़ोस, गाँव अथवा नगर के लोगों तक उसका प्रसार करें। इसके बाद प्रत्येक मनुष्य-मात्र (चाहे वह किसी भी जाति, धर्म व देश का हो,) से हम प्रेम का व्यवहार करें। फिर जानवर तथा पक्षियों से अपना प्रेम व्यवहार बढ़ायें और फिर पेड़, पौधे तथा जड़ वस्तुओं तक अपने प्रेम का विस्तार कर दें। चारों ओर, हर समय, हमें प्रेम ही प्रेम दिखाई पड़े और हम उस प्रेम के समुन्द्र में ही डूबे रहें।

किन्तु हमारा यह प्रेम किसी भी प्रकार के स्वार्थ से रहित हो। प्रेम केवल प्रेम के लिए ही हो। ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर यह संसार, जिसको हम दुखों का सागर कहते हैं, एक दिन हमें प्रेम-नगरी के रूप में दृष्टिगोचर होने लगेगा। सब ओर प्रेम ही प्रेम दिखाई देगा। संसार प्रेम का सागर बन जायेगा और इस प्रकार के प्रेम-प्रवाह का अर्थ होगा ' चारों ओर, हर समय, ईश्वर ही ईश्वर का दृष्टिगोचर होना।' ऐसी स्थिति वाले साधक को समझ लो कि ईश्वर-प्रेम मिल गया और इसके परिणाम स्वरूप ऐसा साधक स्वयं ईश्वर-रूप हो गया। प्रेम की सीढ़ी पर चढ़कर वह नर्क से निकलकर मोक्ष की स्थिति में पहुँच गया अर्थात् जीवन-मुक्त हो गया। यह है प्रेम का महत्त्व।

साधना करते समय जब साधक अधिक प्रेम में डूब जाता है तो उस प्रेम में कभी-कभी शब्द या प्रकाश भी डूब जाते हैं। शब्द न सुनाई पड़ने पर अथवा प्रकाश न दिखाई पड़ने पर साधक समझता है कि शायद मेरी उन्नति रुक गयी अथवा अवनति हो रही है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए। प्रेमी साधक को चाहिए कि वह ईश्वर को धन्यवाद दे जिसने उसके अन्दर

इतना प्रेम उत्पन्न कर दिया। उन्नति एवं अवनति के विचार को त्याग कर प्रेमी साधक को चाहिए कि वह अपने मार्ग पर प्रेम पूर्वक दृढ़ता से जमा रहे तथा बढ़ता रहे।

सारांश यह है कि प्रेम की सीढ़ी का सहारा साधक के लिए आवश्यक है। बिना प्रेम के साधना में रूखापन रहता है। ज्ञानमार्ग की साधना में भी तभी सफलता मिलती है जब प्रेम जाग्रत हो जाता है। ईश्वर अथवा गुरु से दृढ़ प्रेम, ईश्वर प्राप्ति का एक सरल साधन है। ईश्वर सबको अपने प्रेम देकर कृतार्थ करें ! गुरुदेव सबका कल्याण करें।

- जगवीर सिंह, टूण्डला

राम सन्देश : जून १९९२

अन्तरावलोकन

जीवन को एक अनबूझ पहेली कहा जाता है। श्रष्टि की उत्पत्ति से लेकर आज तक अनगिनत विचारक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक - सन्त-महात्मा-वेदवेत्ता-शास्त्रवेत्ता-अवतारों की कोटि में गिने जाने वाले लोग आदि इत्यादि इस धरा धाम पर अवतरित हुए तथा उन सबने अपने-अपने ढंग से इस जीवन की वास्तविकता का मार्ग प्रशस्त किया, परन्तु इस जीवन का राज़ पूरी तरह किसी ने भी निष्पादित नहीं किया।

जहाँ एक और जीवन को निसर्ग का एक महान मोहक वरदान माना जाता है, मानव जीवन की प्राप्ति बड़े भाग्य से होनी कही गयी है, वहीं दूसरी ओर मानव शरीर को व्याधियों का घर भी कहा जाता है। व्याधि-जर्जर शरीर, दुष्चिन्ताओं से घिरा मस्तिष्क एवं मृत्यु-भय से त्रसित आत्मा, ऊपर से त्रिविध ताप, किस नर्क से कम हैं। और विडंबना है की शरीर के अन्दर अवस्थित आत्मा सुख और दुःख के द्वन्द में फँसी रहकर " पूर्ण मद : पूर्ण मिदम " की परिकल्पना से कोसों दूर रह जाती है, तभी तो आदि सन्त महात्मा कबीर (जिन्होंने सतगुरु होने का यह कह कर दावा किया है कि " कबीरा सबका बाप है, बेटा काहु का नाहिं ! जो कबीर बेटा भया, सो तो सतगुरु नाहिं!!" को भी अन्तोगत्वा कहना पड़ा कि " जा मरने से जग डरे, मोरे मन आनन्द ! कब मरि हैं कब पाइ हैं पूरण परमानंद !!" जिस पूर्णता की प्राप्ति ही इस जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया जाता है, वह इस जीवन के अन्तर्गत प्राप्य नहीं, जैसा कि महात्मा कबीर ने ऊपर बतलाया है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि मानव-कल्पित पूर्णता ईश्वरीय नियोजन में सापेक्ष मात्र ही है।

हमारे धर्मशास्त्र इस बात के गवाह हैं तथा इस पृथ्वी पर अवतार ले चुके महामनीषियों की जीवनिया ज्वलंत उदाहरण हैं। यहाँ तक कि दयाल देश से आर्यी बंधन एवं मोक्ष से रहित आत्माओं को भी " नाच नटी इव " के उपालम्भ से गुज़रना पड़ा। इस सन्दर्भ में एक बार छत्रपति शिवाजी के पूछने पर समर्थ गुरु रामदास ने बताया था कि संचित और क्रियमाण कर्म भले ही आत्म-ज्ञान से नष्ट कर दिए जायें पर प्रारब्ध कर्म देह-पात हुए बिना कदापि नहीं

छूटते। इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि " संचित और क्रियमाण कर्म ऐसे हैं जैसे धनुष्य पर चढ़ा हुआ वाण। उसका नाश करने में आत्मज्ञानी स्वतंत्र होता है (वह चाहे तो वाण छोड़े या न छोड़े) परन्तु प्रारब्ध कर्म छूटे हुए वाण की तरह हैं जिस पर उसकी सत्ता नहीं चलती।"

निर्वाणप्राप्त महात्मा रामचन्द्र जी साहब की जीवनी में आया है - " कारसाजे कार दरिया तख्त बन्दम कर दर्ई ! बाज़ भी गोयद कि दामन तर मकुम होशियार वास !!!" (अर्थात् श्रष्टि के रचयिता ने इस जीव को तख्ते में बाँध कर संसार- सागर में फेंक दिया है और ताक़ीद की है कि इसे सागर-जल (माया) स्पर्श न करे। ऐसा होना कितना सम्भव है ? संत तुलसीदास जी ने लिखा है " सबहि नचावत राम गोसाई ! बाँध्यो कटि मरकट की नाई !!!" जहाँ स्वतंत्रता ही नहीं है तो फिर वहाँ जीवन की मोहकता कहाँ ? माना कि 'दर्शन' एक ऊँची अभिव्यक्ति है परन्तु वह वास्तविक परिणति तो नहीं है। वास्तविक परिणति हेतु भगवान् श्रीकृष्ण का सन्देश तो यह है कि - " सर्व धर्मान् परित्याज्य, मामेक शरणं ब्रज " (सभी धर्मों का परित्याग कर केवल मेरी, मात्र मेरी शरण में आ जाओ तभी मैं तुम्हारे योग क्षेम का वहन करूँगा।)

विचारणीय है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने ' सभी धर्मों के परित्याग ' की बात क्यों कही जब कि भगवद्वाणी है - " धर्म संस्थापनाथार्य सम्भवामि युगे युगे" इसका उत्तर यह हो सकता है कि भगवान् श्रीकृष्ण तो अवतार थे। अवतार काल देश से आता है, दुनिया में सत्ता स्थापित करने ताकि श्रष्टि की निरन्तरता बनी रहे, न कि दुनिया उजाड़ने के लिए। इससे यह तथ्य उभरता है कि धर्माश्रयी अधिक से अधिक स्वर्ग तक ही सीमित रह जाता है और पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः इसी मृत्यु लोक में आता है। इस तरह आवागमन का चक्र चलता रहता है। प्रस्तुत संदर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण व्यक्तिगत तौर पर मोह-संतप्त अर्जुन के कल्याण की बात बता रहे हैं ताकि वह सदा सदा के लिए आवागमन के चक्र से छूट जाये।

श्रुति में कहा गया है कि " चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति " (चलते रहो, चलते रहो, चलते रहो) यानी चलते रहना ही जीवन है। परन्तु ब्रह्मा जी की श्रष्टि में गति की कल्पना भ्रान्ति है। भ्रान्ति अज्ञान जन्य होती है। इस अज्ञान के निवारण हेतु यह धारणा कि चलते रहो, चलते रहो जब तक कि ज्ञान रूपी सूर्य उदित नहीं हो जाता, निहायत तर्क संगत और न्याय संगत है।

श्रुति तब तक चलते रहने का परामर्श देती है जब तक जीव, जो मिथ्या जगत से तादाम्य करके चैतन्य होते हुए भी जड़त्व को प्राप्त हो गया है, अपने शुद्ध स्वरूप का बोध प्राप्त कर सदा सदा के लिए उस निर्विकार से एकाकार नहीं प्राप्त कर लेता। सती मदालसा द्वारा अपने कनिष्ठ पुत्र अलर्क को दिया गया वह अंतिम उपदेश अत्यन्त विचारणीय है जिसका भावार्थ है -
"संग अर्थात् आसक्ति का सब प्रकार से त्याग करना चाहिये, किन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषों का संग करना चाहिये, क्योंकि सत्पुरुषों का संग ही उसकी औषधि है। कामना को सर्वथा छोड़ देना चाहिये, परन्तु यदि वह न छोड़ी जा सके तो मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिये, क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामना को मिटाने की दवा है।"

**" तीन लोक नौ खण्ड में, गुरु ते बड़ा न कोय !
दाता करै न करि सकै , गुरु करै सो होय !!"**

ऊपर सत्पुरुषों का संग(आसक्ति के त्याग हेतु) तथा मुमुक्षा (मोक्ष प्राप्त करने की कामना) की कामना करने की बात बताई गयी है। कामना तो वस्तुतः कामना ही है और परिणामतः बंधनकारिणी भी। बंधन चाहे लोहे का हो या हीरे जवाहिरात का, वह तो बन्धन ही रहेगा। इसीलिए निर्वाण प्राप्त संत प्रवर महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फ़रमाया करते थे :

" तर्कें दुनिया, तर्कें उक्रबा, तर्कें मौला, तर्कें तर्क "

यानी दुनिया को छोड़ो, दुनिया के ख्याल को छोड़ो, स्वर्ग के ख्याल को छोड़ो, फिर उस गुरु को छोड़ो जिसकी महती कृपा के फलस्वरूप इतना सब कुछ कर गुज़रने का सुयोग सम्भव हुआ और अंत में छोड़ने के ख्याल को भी छोड़ दो।

अगर ख्याल भी बाक़ी रहा तो वहाँ दुड़ रही और उसमें सकून (द्वैत में शांति) कहाँ मिलेगा ? पूज्य महात्मा डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी महाराज कहा करते थे - " खुदा खुदा करे और खुदी का दम भरे, बड़ा मक्कार है, फ़रेबी है खुदाई का !!!" सचमुच देखा जाय तो यह हमारी खुदी है जो हमें खुदा से जुदा किये हुए है, अन्यथा हम तो वही हैं जो वह खुदा है। महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी एक आदर्श जीवन जीकर, प्राणिमात्र में अपने इष्ट की झलक पाते रहते थे तथा अपने सभी अनुयायियों को अपने से भी आगे ले जाने के लिए सदा कटिबद्ध रह कर अनेकों का उद्धार कर गए ।

भर्तृहरि जी का एक संस्कृत श्लोक है जिसका भावार्थ है कि जब तक यह शरीर स्वस्थ है, और जब तक वृद्धावस्था दूर है, तथा जब तक इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई है, एवं जब तक आयु का क्षय नहीं हुआ है, तभी तक समझदार मनुष्य को आत्म कल्याण के लिए महान प्रयत्न कर लेना चाहिए, अन्यथा घर में आग लग जाने के बाद कुआँ खोदने के लिए परिश्रम करने से क्या लाभ है।?

निर्वाणप्राप्त परमसन्त **डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी साहब** का जीवन एकदम व्यावहारिक था। उन्हें जीवन की हर ऊँची-नीची अवस्था का कटु अनुभव प्राप्त था। अतः वे अपने अनुयायियों को अपने व्यक्तिगत व्यवहार के माध्यम से शिक्षा दिया करते थे। प्रायः हर सत्संगी का यह अनुभव होगा कि जब कभी हम लोग सिकन्द्राबाद आपकी सेवा में उपस्थित होते थे तो ऐसा लगता था कि मानो वे हमारी प्रतीक्षा में ही बैठे हों। घर में यदि नौकर नहीं होता था तो वे स्वयं अपने हाथों से चाय तैयार कर हमारे लिए ले आते और इतनी आत्मीयता से पेश करते कि हर आगन्तुक बरबस उनकी तरफ़ आकृष्ट हो जाता था। जब तक हम लोग चाय पीते आप फ़ौरन शौचालय में पानी रख देते तथा स्नानागार में बाल्टी में पानी भर कर तौलिया रख देते तथा हम लोगों से शौच, स्नानादि हेतु कहते। स्नानागार में पानी से भरी बाल्टी देखते ही कृतग्यता के आँसू अपने आप लुढ़क पड़ते थे ।

वह प्यार हममें से किसी को भी अपने माँ-बाप से ही कभी मिला होगा जो हमारे गुरुदेव हम लोगों को स्वभावतः दिया करते थे। प्रायः हर व्यक्ति यही समझता था कि गुरुदेव सबसे अधिक उससे ही प्यार करते हैं। उनका दूसरा बड़ा गुण यह था कि सारी बातों को (हमारी छोटी से छोटी भूल को) अपने ही ऊपर ढालकर सबके सामने बेहिचक कह देते थे। यह था उनका हमारे चरित्र गठन का अनुपम तरीका ।

आध्यात्म की शिक्षा परम् पूज्य गुरुदेव पूर्णतया निष्पक्ष भाव से देते थे। उनका कहना था कि आध्यात्म का वास्तविक प्रचार यही है कि हर साधक ' जल में कमल पत्र' की भाँति हो जाये। उनका यह भी मानना था कि सौ सियारों से एक शेर भला। इसलिए वे जमात इकट्ठा करने के पक्षधर नहीं थे। जब तक हम अपना मन गुरु के अनुरूप नहीं बना लेते, कभी भी उनकी दी हुई शिक्षा हमारे अन्दर टिक नहीं सकती। अतः आवश्यक है कि हर समय हम अपने

मन को टटोलते रहें, जो -जो कमियां समझ में आती जायें, धीरे-धीरे उन्हें मन से दूर करते चले जायें, तभी हमारी साधना सफल होगी अन्यथा सैकड़ों जन्मों में भी हमारा उद्धार असम्भव ही रहेगा। मोटे तौर पर ,गुरु महाराज जी ने बतलाया है कि गुरु या परमात्मा का प्रेम उसी समय शिष्य ग्रहण करता है जब वह इन्द्रियों के भोग, वासनाओं के चक्र और बुद्धि की चतुराई से ऊपर हो जाता है।

निर्वाणप्राप्त परमसन्त महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी साहब का कहना था कि "एक प्रेम के नाते को छोड़कर मैं और किसी नाते को नहीं जानता। केवल प्रेम और वह भी निस्वार्थ प्रेम। " प्रेम का अर्थ क्या है ? आपने बताया, "प्रेम का अर्थ है अपने पड़ोसियों और सभी संसर्ग में आने वालों से असली तौर पर अपनी एकता और अभेदता का अनुभव करना।" दूसरे अर्थों में, " असली प्रेम वह है जो दूसरों की भलाई के लिए हो और उसमें अपना कोई स्वार्थ शामिल न हो। प्रेम का कोई बदला नहीं है। प्रेम सिर्फ प्रेम के लिए हो और उसको वजह का भी पता नहीं लगना चाहिए । "

नक़्शबन्दिया खानदान में एक बड़े बुजुर्ग हज़रत ख़्वाजा बाक़ी विल्लाह साहब (कासि०) पैदा हुए हैं। उनकी एक रुबाई जो दिल को छू लेने वाली है, इस प्रकार है -

" दर राहे खुदा जुमला अदब बायद बूद जा जां बाकीस्त दर तलद दायद बूद !

दर दरिया अगर बकामत रोज़न्द गुम बायद कर्द व खुशक लब बायद !!

अनुवाद - " खुदा के रास्ते में पूर्ण रूप से शिष्टाचार के साथ रहना चाहिए। जब तक जीवन शेष है, ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने की खोज में लगे रहना चाहिये। नदी में अगर तुम्हारे हलक़ में पानी डालें, तो ऐसा अनुभव करना चाहिये कि पानी नहीं पिया गया, और प्यास बनी रहना चाहिये । "

इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि ब्रह्म-ज्ञान रूपी नदी में साधक को चाहे जितना ही आत्म-ज्ञान रूपी जल पीने को मिले, उसे सदैव प्यासा ही बना रहना चाहिये, अर्थात् उसे यही अनुभव करते रहना चाहिये कि मुझे अभी तक कुछ भी ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। और उस ज्ञान को प्राप्त करने की पिपासा बनी रहना चाहिये ।

इस सिलसिले में एक मिसरा भी है -" चू पैबन्द हा बगसली वासिली " यानी " जब दुनिया से सम्बन्ध तोड़ दोगे तो ईश्वर से मिलन हो जायेगा।"

हिन्दू समाज में श्रीमद्भागवत गीता तथा तुलसीकृत रामायण का नाम बहुत ही श्रद्धा से लिया जाता है। इन दोनों पवित्र ग्रंथों में (१) भगवान श्रीकृष्ण ने, तथा (२) भगवान श्री राम ने जिज्ञासुओं/मुमुक्षुओं के लिए 'ठेकेदारी' भाषा का प्रयोग किया है। एक ओर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से गीता के तीसरे से सत्रहवें अध्याय तक ईश्वर प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्गों का बड़ा ही मार्मिक उपदेश दिया है, परन्तु अंत में अठारहवें अध्याय के छियासठवें श्लोक में यह कह दिया है कि " सर्व धर्मान परित्यज्य मामकं शरणं ब्रज" यानी सभी धर्मों का परित्याग कर केवल मेरी शरण में आ जा ओर तब " अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि" मैं तुझे पापों से मुक्त कर दूँगा।"

वहीं दूसरी तरफ भगवान श्री राम के श्रीमुख से गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहलवाया है कि, " सन्मुख होइ जीव मोहि जब ही ! जन्म कोटि अध नासों तब ही !!" यानी ज्यों ही जीव मेरे सम्मुख आता है त्योंही मैं उसके करोड़ों जन्मों के पापों को विनष्ट कर देता हूँ दोनों अवतारी पुरुषों ने एक वचन का प्रयोग किया है। भगवान श्री राम ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कौन जीव उनके सम्मुख आ पाता है। - जैसे, " जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई ! मोरे सम्मुख आव कि सोई !!" और - " निर्मल मन जन सो मोहि पावा ! मोहि कपट छल छिद्र न भावा !!" अर्थात् दुष्ट हृदय वाला व्यक्ति कदापि मेरे (यानी भगवान के) सम्मुख नहीं आ सकता, और जिस मनुष्य का मन निर्मल होता है वही मुझे (भगवान को) पाता है। परमात्मा को कपट तथा छल-छिद्र कतई नहीं सुहाते ।

कहने का तात्पर्य यह हुआ कि ' मन का निर्मल होना ' भगवत्प्राप्ति का आनुषंगिक उपाय है। ऐसे ही निर्मल मन वाले साधक के प्रति हज़रत मौलाना शाह फ़ज़ल अहमद खां साहब ने फ़रमाया है - " राहे सुलूक इश्क़ में रियाज़त नहीं ज़रूर ! सौ सौ मुक़ाम होते हैं तय एक नज़र में !!" यह प्रेम का एक अनूठा मार्ग है। इस मार्ग में बाअदब (शिष्ट) लोग ही बानसीब होते हैं जिनपर सन्त सद्गुरु की कृपा सीधे हो जाती है। ऐसे लोग अपनी पूर्व की कमाई साथ लाते हैं जिससे इनके इन्तखाब करने (चुनने में) विशेष कठिनाई नहीं होती। सद्गुरु

की कृपा -दृष्टि पड़ते ही इनके पुराने संस्कार एक दम जाग उठते हैं और ये शीघ्र ही ईश्वरीय प्रेम के अधिकारी बन जाते हैं।

मन को निर्मल करने हेतु जिस अन्न का उपयोग साधक करता है उसका शुद्ध और पवित्र कमाई का होना आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह खाना (भोजन) ईश्वर की याद में और उसके ध्यान में पकाया गया हो।, अन्यथा हज़रत ख्वाज़ा बाक़ी बिल्लाह साहब का कहना है कि उस खाने से एक धुआँ उठता है जो ईश्वर कृपा उतरने का मार्ग बन्द कर देता है और पवित्र आत्मायें, जो ईश्वरीय कृपा के उतरने का साधन हैं, ऐसा भोजन करने वाले के समक्ष नहीं आतीं। किसी और ज्ञानी की अभिव्यक्ति है :

" क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा, रुष्टा तुष्टा क्षणे क्षणे !

अव्यवस्थित चित्तानी, प्रसादी अपि भयंकर !!"

यानी, क्षण मात्र में रुष्ट होना और क्षण मात्र में तुष्ट (प्रसन्न) होना यह अव्यवस्थित चित्त का द्योतक है। अव्यवस्थित चित्त वाले व्यक्ति के हाथ से प्रभु को चढ़ाया हुआ प्रसाद भी वितरित किये जाने पर भयंकर दुष्परिणाम पैदा कर देता है। अतः हर साधक को उचित है कि आहार की शुद्धि पर विशेष ध्यान दे। कहा भी है - **"आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि "** अर्थात् **आहार शुद्ध होने से हमारी प्रवृत्ति सात्विक बनती है और सात्विक वृत्ति ईश-भजन में अपेक्षित है।**

सन्तों का आगमन इस धरा धाम पर, जैसा कि अधिकतर लोग जानते हैं, भूले-भटके जीवों को ईश्वराभिमुख करने तथा उन्हें आवागमन के चक्र से सदा-सदा के किये छुड़ाने हेतु होता है। यह काम वे स्वेच्छा से, अपने गुरु का ऋण उतारने के लिए करते हैं। उनका कहना है कि अगर आप में कोई इच्छा उठती है और आप उसे पूरा ही करना चाहते हैं तो ईश्वर का सहारा लेकर करें और यदि वह इच्छा पूरी न हो, तो भी खुश रहें।

यह भी समर्पण में ही आता है। समर्पण में न कर्म रहता है और न ही उसका बदला, यानी कर्मफल। इस तरह से रहें कि यह सारी सृष्टि जो परमात्मा की लीला है, इसे देखते रहें - द्रष्टा बन कर। सारी चीज़ें ईश्वर की हैं। हम भी ईश्वर के हैं, हमारा शरीर भी उसी का दिया हुआ है। अपनी शुद्ध-बुद्धि और सच्चे दिल से उस ईश्वर का शुक्रिया अदा करते रहें। किसी भी प्रकार की इच्छा, यहाँ तक कि परमात्मा को पाने की भी इच्छा, पूर्णरूपेण मन से निःशेष हो

जाये। इच्छाओं से ऊपर उठ जाना ही मन को जीतना कहा गया है, तभी जीव का आवागमन समाप्त होता है और यही मोक्ष है।

परम सन्त डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी का कहना था कि परमात्मा से कुछ मत माँगो। अगर कुछ माँगना ही चाहते हो तो उसका प्रेम माँगो और उसी की (परमात्मा की) इच्छा पूर्ण हो, ऐसी कामना करते रहो। जिस हालत में भी ईश्वर ने रखा है, उसी में खुश रहो और अपनी इच्छाओं को कम करते चले जाओ ।

राम सागर लाल, गोरखपुर ।

भर्तृहरि जी का एक संस्कृत श्लोक है जिसका भावार्थ है कि जब तक यह शरीर स्वस्थ है, और जब तक वृद्धावस्था दूर है, तथा जब तक इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई है, एवं जब तक आयु का क्षय नहीं हुआ है, तभी तक समझदार मनुष्य को आत्म कल्याण के लिए महान प्रयत्न कर लेना चाहिए, अन्यथा घर में आग लग जाने के बाद कुआँ खोदने के लिए परिश्रम करने से क्या लाभ है।?

निर्वाणप्राप्त परमसन्त डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी साहब का जीवन एकदम व्यावहारिक था । उन्हें जीवन की हर ऊँची-नीची अवस्था का कटु अनुभव प्राप्त था। अतः वे अपने अनुयायियों को अपने व्यक्तिगत व्यवहार के माध्यम से शिक्षा दिया करते थे। प्रायः हर सत्संगी का यह अनुभव होगा कि जब कभी हम लोग सिकन्द्राबाद आपकी सेवा में उपस्थित होते थे तो ऐसा लगता था कि मानो वे हमारी प्रतीक्षा में ही बैठे हों । घर में यदि नौकर नहीं होता था तो वे स्वयं अपने हाथों से चाय तैयार कर हमारे लिए ले आते और इतनी आत्मीयता से पेश करते कि हर आगन्तुक बरबस उनकी तरफ़ आकृष्ट हो जाता था । जब तक हम लोग चाय पीते आप फ़ौरन शौचालय में पानी रख देते तथा स्नानागार में बाल्टी में पानी भर कर तौलिया रख देते तथा हम लोगों से शौच, स्नानादि हेतु कहते । स्नानागार में पानी से भरी बाल्टी देखते ही कृतग्यता के आँसू अपने आप लुढ़क पड़ते थे ।

वह प्यार हममें से किसी को भी अपने माँ-बाप से ही कभी मिला होगा जो हमारे गुरुदेव हम लोगों को स्वभावतः दिया करते थे। प्रायः हर व्यक्ति यही समझता था कि गुरुदेव सबसे अधिक उससे ही प्यार करते हैं। उनका दूसरा बड़ा गुण यह था कि सारी बातों को (हमारी छोटी से छोटी भूल को) अपने ही ऊपर ढालकर सबके सामने बेहिचक कह देते थे। यह था उनका हमारे चरित्र गठन का अनुपम तरीका ।

आध्यात्म की शिक्षा परम् पूज्य गुरुदेव पूर्णतया निष्पक्ष भाव से देते थे। उनका कहना था कि आध्यात्म का वास्तविक प्रचार यही है कि हर साधक ' जल में कमल पत्र' की भाँति हो जाये। उनका यह भी मानना था कि सौ सियारों से एक शेर भला । इसलिए वे जमात इकट्ठा करने के पक्षधर नहीं थे। जब तक हम अपना मन गुरु के अनुरूप नहीं बना लेते, कभी भी उनकी दी हुई शिक्षा हमारे अन्दर टिक नहीं सकती । अतः आवश्यक है कि हर समय हम अपने मन को टटोलते रहें, जो -जो कमियां समझ में आती जायें, धीरे-धीरे उन्हें मन से दूर करते चले जायें, तभी हमारी साधना सफल होगी अन्यथा सैकड़ों जन्मों में भी हमारा उद्धार असम्भव ही रहेगा। मोटे तौर पर ,गुरु महाराज जी ने बतलाया है कि गुरु या परमात्मा का प्रेम उसी समय शिष्य ग्रहण करता है जब वह इन्द्रियों के भोग, वासनाओं के चक्र और बुद्धि की चतुराई से ऊपर हो जाता है ।

निर्वाणप्राप्त परमसन्त महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी साहब का कहना था कि **"एक प्रेम के नाते को छोड़कर मैं और किसी नाते को नहीं जानता। केवल प्रेम और वह भी निस्वार्थ प्रेम । " प्रेम का अर्थ क्या है ? आपने बताया, "प्रेम का अर्थ है अपने पड़ोसियों और सभी संसर्ग में आने वालों से असली तौर पर अपनी एकता और अभेदता का अनुभव करना।" दूसरे अर्थों में, " असली प्रेम वह है जो दूसरों की भलाई के लिए हो और उसमें अपना कोई स्वार्थ शामिल न हो । प्रेम का कोई बदला नहीं है। प्रेम सिर्फ प्रेम के लिए हो और उसको वजह का भी पता नहीं लगना चाहिए । "**

नक्शबन्दिया खानदान में एक बड़े बुजुर्ग हज़रत ख्वाजा बाक़ी विल्लाह साहब (कासि) पैदा हुए हैं। उनकी एक रुबाई जो दिल को छू लेने वाली है, इस प्रकार है -

" दर राहे खुदा जुमला अदब बायद बूद जा जां बाकीस्त दर तलद दायद बूद !

दर दरिया अगर बकामत रोज़न्द गुम बायद कर्द व खुशक लब बायद !!

अनुवाद - " खुदा के रास्ते में पूर्ण रूप से शिष्टाचार के साथ रहना चाहिए। जब तक जीवन शेष है, ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने की खोज में लगे रहना चाहिये। नदी में अगर तुम्हारे हलक़ में पानी डालें, तो ऐसा अनुभव करना चाहिये कि पानी नहीं पिया गया, और प्यास बनी रहना चाहिये। "

इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि ब्रह्म-ज्ञान रूपी नदी में साधक को चाहे जितना ही आत्म-ज्ञान रूपी जल पीने को मिले, उसे सदैव प्यासा ही बना रहना चाहिये, अर्थात् उसे यही अनुभव करते रहना चाहिये कि मुझे अभी तक कुछ भी ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। और उस ज्ञान को प्राप्त करने की पिपासा बनी रहना चाहिये।

इस सिलसिले में एक मिसरा भी है - " **चू पैबन्द हा बगसली वासिली " यानी " जब दुनिया से सम्बन्ध तोड़ दोगे तो ईश्वर से मिलन हो जायेगा"**

हिन्दू समाज में श्रीमद्भागवत गीता तथा तुलसीकृत रामायण का नाम बहुत ही श्रद्धा से लिया जाता है। इन दोनों पवित्र ग्रंथों में (१) भगवान श्रीकृष्ण ने, तथा (२) भगवान श्री राम ने जिज्ञासुओं/मुमुक्षुओं के लिए 'ठेकेदारी' भाषा का प्रयोग किया है। एक ओर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से गीता के तीसरे से सत्रहवें अध्याय तक ईश्वर प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्गों का बड़ा ही मार्मिक उपदेश दिया है, परन्तु अंत में अठारहवें अध्याय के छियासठवें श्लोक में यह कह दिया है कि " **सर्व धर्मान परित्यज्य मामकं शरणं ब्रज" यानी सभी धर्मों का परित्याग कर केवल मेरी शरण में आ जा ओर तब " अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि" मैं तुझे पापों से मुक्त कर दूँगा।"**

वहीं दूसरी तरफ भगवान श्री राम के श्रीमुख से गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहलवाया है कि, " **सन्मुख होइ जीव मोहि जब ही ! जन्म कोटि अध नासों तब ही !!"** यानी ज्यों ही जीव मेरे सम्मुख आता है त्योंही मैं उसके करोड़ों जन्मों के पापों को विनष्ट कर देता हूँ। दोनों अवतारी पुरुषों ने एक वचन का प्रयोग किया है। भगवान श्री राम ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कौन जीव उनके सम्मुख आ पाता है। - जैसे, " **जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई ! मोरे**

सम्मुख आव कि सोई !!" और - " निर्मल मन जन सो मोहि पावा ! मोहि कपट छल छिद्र न भावा !!" अर्थात दुष्ट हृदय वाला व्यक्ति कदापि मेरे (यानी भगवान के) सम्मुख नहीं आ सकता, और जिस मनुष्य का मन निर्मल होता है वही मुझे (भगवान को) पाता है । परमात्मा को कपट तथा छल-छिद्र कतई नहीं सुहाते ।

कहने का तात्पर्य यह हुआ कि ' मन का निर्मल होना ' भगवत्प्राप्ति का आनुषंगिक उपाय है। ऐसे ही निर्मल मन वाले साधक के प्रति हज़रत मौलाना शाह फ़ज़ल अहमद खां साहब ने फ़रमाया है - " राहे सुलूक इश्क़ में रियाज़त नहीं ज़रूर ! सौ सौ मुक़ाम होते हैं तय एक नज़र में !!" यह प्रेम का एक अनूठा मार्ग है। इस मार्ग में बाअदब (शिष्ट) लोग ही बानसीब होते हैं जिनपर सन्त सद्गुरु की कृपा सीधे हो जाती है। ऐसे लोग अपनी पूर्व की कमाई साथ लाते हैं जिससे इनके इन्तखाब करने (चुनने में) विशेष कठिनाई नहीं होती। सद्गुरु की कृपा -दृष्टि पड़ते ही इनके पुराने संस्कार एक दम जाग उठते हैं और ये शीघ्र ही ईश्वरीय प्रेम के अधिकारी बन जाते हैं।

मन को निर्मल करने हेतु जिस अन्न का उपयोग साधक करता है उसका शुद्ध और पवित्र कमाई का होना आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह खाना (भोजन) ईश्वर की याद में और उसके ध्यान में पकाया गया हो, अन्यथा हज़रत ख्वाज़ा बाक़ी बिल्लाह साहब का कहना है कि उस खाने से एक धुआँ उठता है जो ईश्वर कृपा उतरने का मार्ग बन्द कर देता है और पवित्र आत्मायें, जो ईश्वरीय कृपा के उतरने का साधन हैं, ऐसा भोजन करने वाले के समक्ष नहीं आतीं। किसी और ज्ञानी की अभिव्यक्ति है :

" क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा, रुष्टा तुष्टा क्षणे क्षणे !

अव्यवस्थित चित्तानी, प्रसादी अपि भयंकर !!"

यानी, क्षण मात्र में रुष्ट होना और क्षण मात्र में तुष्ट (प्रसन्न) होना यह अव्यवस्थित चित्त का द्योतक है । अव्यवस्थित चित्त वाले व्यक्ति के हाथ से प्रभु को चढ़ाया हुआ प्रसाद भी वितरित किये जाने पर भयंकर दुष्परिणाम पैदा कर देता है। अतः हर साधक को उचित है कि आहार की शुद्धि पर विशेष ध्यान दे। कहा भी है - **"आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि "** अर्थात **आहार शुद्ध होने से हमारी प्रवृत्ति सात्विक बनती है और सात्विक वृत्ति ईश-भजन में अपेक्षित है ।**

सन्तों का आगमन इस धरा धाम पर, जैसा कि अधिकतर लोग जानते हैं, भूले-भटके जीवों को ईश्वराभिमुख करने तथा उन्हें आवागमन के चक्र से सदा-सदा के किये छुड़ाने हेतु होता है। यह काम वे स्वेच्छा से, अपने गुरु का ऋण उतारने के लिए करते हैं। उनका कहना है कि अगर आप में कोई इच्छा उठती है और आप उसे पूरा ही करना चाहते हैं तो ईश्वर का सहारा लेकर करें और यदि वह इच्छा पूरी न हो, तो भी खुश रहें।

यह भी समर्पण में ही आता है। समर्पण में न कर्म रहता है और न ही उसका बदला, यानी कर्मफल। इस तरह से रहें कि यह सारी सृष्टि जो परमात्मा की लीला है, इसे देखते रहें - द्रष्टा बन कर। सारी चीजें ईश्वर की हैं। हम भी ईश्वर के हैं, हमारा शरीर भी उसी का दिया हुआ है। अपनी शुद्ध-बुद्धि और सच्चे दिल से उस ईश्वर का शुक्रिया अदा करते रहें। किसी भी प्रकार की इच्छा, यहाँ तक कि परमात्मा को पाने की भी इच्छा, पूर्णरूपेण मन से निःशेष हो जाये। इच्छाओं से ऊपर उठ जाना ही मन को जीतना कहा गया है, तभी जीव का आवागमन समाप्त होता है और यही मोक्ष है।

परम सन्त डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी का कहना था कि परमात्मा से कुछ मत माँगो। अगर कुछ माँगना ही चाहते हो तो उसका प्रेम माँगो और उसी की (परमात्मा की) इच्छा पूर्ण हो, ऐसी कामना करते रहो। जिस हालत में भी ईश्वर ने रखा है, उसी में खुश रहो और अपनी इच्छाओं को कम करते चले जाओ।

गुरुदेव सबका कल्याण करें।

राम सन्देश : जून १९९३

'कृपा' पाने योग्य अधिकारी तो बनें !

इस सँसार की छोटी से छोटी वस्तु प्राप्त करने के लिए हमें अधिकारी बनने की आवश्यकता होती है। जब तक हम किसी वस्तु को पाने के लिए अपने अन्दर योग्यता उत्पन्न नहीं करते, तब तक हम उस वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार से ईश्वर-कृपा या गुरु-कृपा प्राप्त करने के लिए भी हमें पहले अधिकारी अथवा योग्य-पात्र बनने की आवश्यकता है। सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए तो हमें धन भी खर्च करना पड़ता है और शारीरिक परिश्रम भी करना पड़ता है। किन्तु पारमार्थिक योग्यता अथवा अधिकार प्राप्त करने के लिए न तो धन ही खर्च करना पड़ता है और न ही शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है, केवल अपने 'मन' को साधने की आवश्यकता है। मन के साधने के लिए ही भिन्न-भिन्न प्रकार की साधनायें की जाती हैं। बस, मन को धीरे-धीरे संसार से हटाकर गुरु-चरणों में लगा दें, तो सब काम बन जाये। सांसारिक वस्तुओं के प्राप्त होने की योग्यता होते हुए भी यह सम्भव है कि हम उन्हें किन्हीं अन्य कारणों से प्राप्त न कर सकें; किन्तु पारमार्थिक योग्यता होने पर यह असम्भव है कि ईश्वर-कृपा अथवा गुरु-कृपा प्राप्त न हो।

ईश्वर कृपा तो हर समय, हर स्थान पर सबके लिए बराबर बरस रही है। ठीक इसी प्रकार संत लोग (गुरुजन) भी जहाँ वे रहते हैं, उठते-बैठते हैं वहाँ उनकी कृपा की अमृत-धार (grace) हर समय सबके लिए बराबर बरसती रहती है। परन्तु इस कृपा को ग्रहण करने के लिए हमारे अन्दर योग्यता (ग्रहणशीलता) होनी चाहिए। बहुत से भाइयों की यह शिकायत होती है कि " हम इतने वर्षों से सत्संग में आ रहे हैं, परन्तु हम तो वैसे के वैसे ही हैं, हमें तो कोई लाभ नहीं हुआ। आज तक कोई अनुभूति नहीं हुई, न कभी प्रकाश दिखाई पड़ा और न कभी शब्द सुनाई पड़ा।" ऐसी शिकायत करने वाले भाई अपने अन्तर में नहीं झाँकते कि इतने समय में उन्होंने अपने ऊपर 'निज -कृपा' कितनी की अथवा अपना स्वयं-सुधार कितना किया ? अपनी कमी दिखाई देना बड़ा कठिन है ।

परमार्थ-पथ में सबसे पहले हमें अपने ऊपर 'निज-कृपा' करनी चाहिए जिससे अपने आचरण,लोक व्यवहार तथा अपने अन्तर का सुधार हो सकेगा, तभी तो हम ईश्वर-कृपा अथवा गुरु कृपा प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। (निज कृपा से आशय अपने स्वयं की कृपा, अपने स्वयं के प्रयास, से है जिसमें गुरु से नियमित संपर्क,उनके उपदेशों को,आदेशों को हित-चित लगाकर सुनना, मनन करना और उनका अक्षरशः पालन करना, नियमित साधना, अपनी रहनी-सहनी सुधारना, अपने मन और मस्तिष्क की बुराइयों, कमियों, दोषों पर सतत निगाह रखना तथा उन्हें धीरे-धीरे नियंत्रित करने के लिए गंभीरता के साथ प्रयत्नशील रहना, अपने अन्तर में सद्गुणों का विकास करना, आदि, आदि उन सब बातों का समावेश होता है जिनके बारे में सद्गुरु अपनी वाणी -उपदेशों से हमें सदैव आदेशित करते रहते हैं।) कहा गया है - " बिना तली भांडा लिये, दुधवा कहाँ टिकाय "। यदि हम टूटे-फूटे बर्तन में दूध लेंगे तो उसमें दूध कहाँ रुकेगा? सब फैल जायेगा और अपने हाथ कुछ नहीं लगेगा। इसके बाद कहा है - " गंदे भाण्डे दूध बिसाय, दूध फटे दूधिया बितराया" यदि हम गंदे बर्तन में दूध लेंगे तो थोड़ी देर में ही वह दूध फट जायेगा। ऐसे समय भी हम यह नहीं सोचते कि हमारी कमी थी जो अपना बर्तन साफ़ नहीं किया, बल्कि दूध देने वाले को दोष देने लगते हैं। पूज्य गुरुदेव बैठे हैं, सत्संग चल रहा है, गुरु-कृपा की वृष्टि सब पर बराबर हो रही है, किन्तु यदि हमारा पात्र (मन) ही शुद्ध नहीं है तो कृपा -वृष्टि हम पर क्या प्रभाव डाल सकती है ?

इसके पश्चात् एक तीसरी स्थिति और आती ही। बर्तन टूटा-फूटा भी नहीं है, शुद्ध व साफ़ है, किन्तु जब दूध लेने का समय आया तो बर्तन टेढ़ा हो गया अथवा औंधा हो गया, तो हमें दूध कैसे मिलेगा ? " औंधे भाण्डे दूध लिवाय, कुछ चिपके बाकी बिखराया" हमारे बर्तन में कुछ दूध चिपका भले ही रह जाय, बाकी तो सब बिखर ही जायेगा। पूज्य गुरुदेव बैठे हैं, सत्संग करा रहे हैं। उनकी कृपा वृष्टि सब पर बराबर हो रही है। हमारा मन भी शुद्ध है, किन्तु जिस समय हम सत्संग में बैठे हैं तो अचानक हमारा ध्यान घर की समस्याओं में चला गया या अन्य किसी स्थान पर पहुँच गया। इस प्रकार अचानक पात्र टेढ़ा अथवा औंधा हो जाने से कुछ दूध चिपका भले ही रह जाय, शेष तो बिखर ही जायेगा। ऐसी स्थिति वाला साधक स्वयं अपनी भूल या कमी का अनुभव करता है। वह दूध देने वाले की कमी नहीं निकालता, वरन स्वयं सुधार करने की चेष्टा करता है की ऐसी भूल फिर भविष्य में कभी न हो ।

साधक का कर्तव्य है कि अपना पात्र रगड़-रगड़ कर खूब साफ़ करे, अपनी कमियों को एक-एक करके दूर करे। फिर जब 'दूध लेने' का समय आये तो ध्यानपूर्वक अपने पात्र को सीधा ही रखे अर्थात् जिस समय सत्संग में बैठे तो सतर्क होकर अपने मन को वहीं गुरु-चरणों में लगाए रखे - तभी सत्संग एवं गुरु-कृपा का पूरा-पूरा लाभ मिलेगा। इसके लिए हमारा प्राथमिक कर्तव्य स्वयं को 'गुरु-कृपा' का अधिकारी बनाना है।

राम सन्देश : अप्रैल, १९९४

-- जगवीर सिंह वर्मा, टूण्डला (उ०प्र०)

प्रीत

ज्ञान मार्ग की साधना के लिए तीव्र बुद्धि तथा इच्छा शक्ति की आवश्यकता है। विवेक तथा वैराग्य से यह साधना प्रारम्भ की जाती है। इसके पश्चात् षष्ठ सम्पत्ति की क्रियाएं की जाती हैं। ये साधन जन साधारण के लिए कठिन होने के कारण उपयोगी नहीं हैं, परन्तु प्रेम मार्ग सरल तथा सुगम है। लेकिन प्रेम में विरह तथा अभीप्सा होनी चाहिये। प्रेमी ईश्वर की खोज में इतना व्याकुल हो जाए कि उसे ईश्वर के अतिरिक्त कुछ और सूझे ही नहीं। प्रभु प्राप्ति के लिये वह निरन्तर पागल सा बना रहे ।

ज्ञान मार्ग में त्याग पर बल दिया जाता है। प्रेम में भी त्याग की भावना स्वभावतः आ जाती है। प्रेम एक से होता है। इसलिए प्रेमी ईश्वर के लिये सब कुछ न्योछावर कर देता है। जब तक साधक माया की वस्तुओं के मोह से मुक्त नहीं होता वह प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता । मोह तथा अहंकार का त्याग आवश्यक है ।

" रे मन , ऐसी हर सौं प्रीतकर जैसी जल कमलोही
लहरी नाल पछाड़िये , भी बिगसै अस्नेह ,
जल में जीअ उपाय के , बिन जल मरण तिनीह ।

हे मनुष्य ! ईश्वर से ऐसा प्रेम कर जैसे जल के साथ कमल का होता है। कमल पानी की चोंटे बार - बार खाता हुआ भी खिला रहता है। इसी प्रकार जो पुरुष ईश्वर से प्रेम करते हैं, उनको चाहें कितने ही दुःख आएँ, वे दुःखों को सहन करके भी प्रसन्न चित्त रहते हैं तथा माया के प्रभाव से मुक्त रहते हैं। प्रेमी ईश्वर को किसी तरह का भी दोष नहीं देते। उसे अपने जीवन का आश्रय मानते हैं। उसे भूलने को अपनी मृत्यु समझते हैं ।

" अन्तर पिरी प्यार , किऊँ पिर बिन जीवीए राम
जब लग दरस न होए , किउं अमृत पीवीए राम ।"

जैसे जल के किसी जीव को जल से बाहर निकाल दिया जाये तो उसकी मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार प्रेमी की अवस्था होती है। प्रेमी एक क्षण के लिए भी ईश्वर के नाम को नहीं भूलता ।

प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य को और कोई रास्ता नहीं है जिससे कि वह भव सागर (जन्म-मरण) से मुक्त हो सके। इसलिए महापुरुष कहते हैं कि क्षणभंगुर और परिवर्तनशील सृष्टि की वस्तुओं से मुँह मोड़कर ईश्वर के चरण कमलों में अपना ध्यान लगाओ। ईश्वर कहीं दूर नहीं है, वह तो मनुष्य के अन्तर में है, उसके समीप जाने का प्रयत्न करना चाहिये। मनुष्य भ्रम वश यह विचार करता है कि ईश्वर कहीं दूर है। इस भ्रम से मुक्त होना चाहिये ।

" रे मन, ऐसी हर सों प्रीत कर जैसी मछली नीर
ज्यों अधिकों तियों सुःख घणो , मन तन सांत सरीर
बिन जल घड़ी न जीवेई, प्रभु जाने अभ पीर । "

हे मनुष्य ! ईश्वर से ऐसा प्रेम कर जैसे मछली का पानी से सम्बन्ध होता है। जैसे - पानी अधिक होता है वैसे ही मछली अधिक प्रसन्न होती है। इसी तरह अन्तर में अधिक प्रेम होने से अधिक शांति का अनुभव होता है। जितना प्रेम बढ़ता जाता है, उतनी ही अन्तर में शांति (मन की वृत्तियों से शांति) मिलती जाती है। जल बिना मछली एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। जल वियोग से मछली के हृदय में जैसी पीड़ा उठती है, वैसी ही प्रेमी के अन्तर में होनी चाहिये ।

" रे मन, ऐसी हर सौ प्रीत कर जैसी चात्रिक मेंहू
सर भर थल हरि -आवले, इक बूंद न पावई केह
कर्म मिले सो पाइये , किरत पया सिर देह । "

हे मन ! ईश्वर के साथ ऐसी प्रीत कर जैसी पपीहे की बादल के साथ होती है। वर्षा होने से नदियाँ आदि पूर्ण हो जाती हैं, चारों ओर वनस्पति प्रसन्नचित अनुभव होती है, परंतु यदि पपीहे के मुख में स्वांति बूंद न पड़े तो उसको ऐसी वर्षा से क्या लाभ ? इसी प्रकार यदि परमार्थी को शान्ति नहीं मिलती तो उसके लिये सर्व प्रकार की वस्तुओं का सुःख प्राप्त होते हुए भी उसका कोई लाभ नहीं है। वह तो तभी हर्षित होगा जब उसे प्रेम की प्राप्ति होगी। इसके लिए चात्रिक की तरह निरन्तर अपने प्रीतम की ओर निहारते रहना चाहिये, प्रेम की निरन्तर अभीप्सा रहनी चाहिये। प्रभु दयानिधि हैं, प्रेम के सागर हैं। अवश्य कृपा होती है

गुरु शरणागति की अद्भुत महिमा

भक्त या साधक यदि भगवत -प्राप्ति के किसी भी मार्ग का अवलम्बन नहीं कर पाता और निरुपाय होकर, अपने को हर प्रकार से अशक्त पाकर, भगवान (गुरु) को ही शरण रूप से वरण करता है तो भगवान ने बराबर उद्घोषणा की है कि, " शोक मत करो कि मैं कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग में से किसी एक का भी अवलम्बन नहीं कर सका, तो बस मेरी शरण में आ जाओ। मेरी शरण ग्रहण कर लो तो मैं तुम्हें समस्त माया प्रपंच से छुड़ा दूँगा।" ऐसे अनेक दृष्टांत हमारे धार्मिक ग्रंथों में भरे पड़े हैं कि जब भक्त ने भगवान की शरण में आकर याचना की, तब भगवान् ने भक्तों की रक्षा की है।

शरणागत का ही दूसरा नाम प्रपन्नता है। सब सहारे छोड़कर भगवान के चरण-कमलों का आश्रय करना ही शरणागति है। लेकिन इसके लिए साधक या भक्त को कृत संकल्प होना होगा।

१) **अनुकूलता का संकल्प** - भगवान के अनुकूल रहने का विचार। भगवान के विधान में अपना हित मानना। वे जैसे रखें उसमें प्रसन्न रहना और प्रभु को धन्यवाद देना, अर्थात् '**राज्ञी - ब-रज्ञा**' की स्थिति में रहना।

२) **प्रतिकूलता का त्याग** - प्रभु द्वारा जीवन में कठोर परिस्थितियाँ लाने पर भी उनके प्रति दुर्भाव न लाना और शास्त्र विरुद्ध कोई कार्य न करना।

३) **भगवान पर पूर्ण विश्वास** - भगवान मेरी रक्षा करेंगे ही - यह दृढ़ विश्वास रहे। यह शंका नहीं होनी चाहिए कि वे मेरी रक्षा करेंगे या नहीं।

४) **परमात्मा को अपना बना लेना** - भगवान को अपना रक्षक बना लेना। जिस प्रकार एक वधु अपने वर को पति के रूप में अपना सर्वेसर्वा वरण करती है, उसी प्रकार भक्त भगवान् को वरण करे।

५) **अकिंचनता का भाव** - मन में दीनता, नम्रता का भाव, भगवान की सर्व रचना में निष्ठा, कि सब कुछ भगवान का ही है, मेरा कुछ नहीं है। शरणागत का सारा भार तो परमात्मा ले ही लेते हैं। प्रपन्न का भी कर्तव्य होता है कि जीवन भर प्रभु की प्रसन्नता के लिए सारे कर्मों को ,स्वयं को भगवान का दास समझ कर करे - यानी कैंकर्य भाव से।

' **अनुकूलस्य संकल्प प्रति कलस्य** ' अर्थात् परमात्मा के अनुकूल कार्य करना। प्रतिकूल कार्य नहीं करना। जिस कार्य से वे प्रसन्न हों, जो कार्य उन्हें रुचे वही कार्य पत्नी की भाँति करें। जिस कार्य से वे नाराज़ हों, जो उनकी इच्छा के विरुद्ध हो, वैसा कार्य प्रपन्न नहीं करे। पत्नी अपने पति के अनुकूल अपना जीवन बना डालती है। पति की इच्छा उसकी इच्छा होती है।

प्रपन्न (शरणागत) के लिए प्रभु की आज्ञा है कि जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, सब मुझे अर्पित कर दो। अतः हम वही भोजन कर सकते हैं जो परमात्मा के अर्पित करने योग्य हो। अपवित्र भोजन या अनुचित कार्य तो भगवान को समर्पित होंगे नहीं। अतः प्रपन्न को आहार और आचरण निर्मल रखना होगा। प्रपन्न का तन-मन-धन सब परमात्मा का है। अतः समय का, शक्ति का और धन का दुरुपयोग निषिद्ध है। सस्ते मनोविनोद और व्यर्थ के वाद-विवाद में अपना समय बर्बाद न करें।

सभी इन्द्रियों को भगवत-प्रसाद समझकर मर्यादा में रखो। जैसे भक्तियोग में कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों सम्मिलित होते हैं उसी प्रकार प्रपन्न की साधना में भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध है।

६) **आत्म समर्पण** - अपना कहलाने योग्य कुछ भी नहीं है - शरीर, इन्द्रियाँ व चैतन्य सब भगवान को अर्पण कर दो। अपने आपको को अनंत अपराधी, अयोग्य और दीन मानते हुए निःसहाय प्रपन्न को प्रभु को कर (हाथ) जोड़कर गिड़गिड़ाना है। भगवत- कैंकर्य को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। क्योंकि वह स्वयं को भगवान का किंकर मानता है। भगवान की सेवा करने में भी किंकर का यह भाव रहता है कि हमारा तो सर्वांग दूषित है। हममें यह योग्यता कहाँ है कि हम प्रभु के मन्दिर में उनकी सेवा कर सकें। लेकिन यह तो उनका सहज स्वभाव है कि वे निज -जन का दोष नहीं देखते और सेवा का अवसर दिए जाते हैं। प्रपन्नी का मार्ग प्राचीन है। जब सभी उपायों से थक जाते हैं तब प्रपन्नी का आश्रय लेते हैं।

" सखा नीति तुमहि कि विचारी, मम प्रिय शरणागत भयहारी
कोटि विप्र बध लागहि नाही, आये शरणागत जहँ नहीं ताही
सम्मुख होई जीव मोहि जबही, जन्म कोटि अध नासहि हौं तबही
सबके ममता ताग बटोरी, मन पद मनहि बाँधि बरि होरी
समदरसी इच्छा कुछ नाही , हरष शोक भय नहीं मन माहीं
अस सज्जन मम डर बस कैसे , लोभी हृदय बसहि धन जैसे "

सारांश यह है कि भगवान की प्रतिज्ञा है कि जो एक बार मेरे शरणागत हो जाता है, अपने आपको मेरे चरणों में सौंप देता है और कह उठता है कि ' भगवान मैं आपका हूँ ' में उसे अभय कर देता हूँ ।

गीता में प्रपत्ति का वर्णन है - अर्जुन जब कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग की बातें सुनकर घबरा गए. तब भगवान ने कहा -

**"सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज
अहं त्वाम सर्व पापेभ्यो मावेविष्यामि माक्षुच : "**

प्रपन्न अपना अभिमान व ममत्व परमात्मा के चरणों में अर्पण कर दे। अपने मन में यह मान ले कि मैं भगवान का हूँ और भगवान के सिवा कुछ भी मेरा नहीं है। यही अभिमान ममत्व का अर्पण है। बराबर इस बात का आत्मनिरीक्षण होता रहे कि मन में भगवान है या जगत में यदि जगह है तो भगवान के लिए ही है। भगवान ही हमारे अमूल्य धन हैं और माया के बंधन से छूटने का एक ही उपाय है कि भगवान के चरणों का आश्रय लेना तथा सब प्रकार से अपने को उनके ऊपर छोड़ देना। नहीं तो बड़े-बड़े ज्ञानी, नारद आदि ऋषि मुनि भी माया से मोहित हो जाते हैं। भगवान के भजन व भगवान के शरणापन्न होने पर माया रह नहीं सकती।

परमात्मा सबका कल्याण करें ।

श्री प्रेमचन्द्र उपाध्याय, बक्सर (बिहार)

राम सन्देश: सितम्बर-अक्टूबर, २००३

परमार्थ पथ और अनुभवी गुरु

यह धारणा है कि परमार्थ में गुरु की आवश्यकता नहीं है, मनुष्य स्वयं अपने अन्दर की प्रेरणा से परमार्थ-मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, नितान्त भ्रम है। यदि यह सम्भव होता तो संत -महात्माओं, फ़कीरों, पीर-पैगम्बरों, अवतारों आदि की यहाँ आने की आवश्यकता क्या थी ? हमारे मन में जैसी साँसारिक इच्छायें भरी हुई हैं और जिनके प्रभाव से मनुष्य संसार में व्यवहार करता है, अन्तर में प्रेरणा भी उन्हीं के अनुरूप मिलती है। मन में ही इच्छायें उठती हैं और प्रेरणा भी मन का रंग लिए हुई होती हैं। सूफ़ियों में मन को शैतान कहा है। अतः उनका कथन है कि साधारण मनुष्य को जो प्रेरणा अन्तर से मिलती है, वह शैतान भेजता है। उसे यह परख कैसे हो कि यह प्रेरणा आत्मा की है या मन की। इसके लिए जब तक कोई अनुभवी पुरुष न हो, साक्षी नहीं हो सकती। ऐसे अनुभवी महापुरुष जिनको रास्ते का भेद मालूम होता है 'गुरु' कहलाते हैं ।

परमेश्वर घट-घट में व्याप्त है और अन्तर में उसकी धार मौजूद है। वह धार रचना करने वाली है, यहाँ से लौटाने का काम नहीं कर सकती। जब कोई सच्चा गुरु मिले तब वही उलट धार करने की और मालिक के धाम में पहुँचने की विधि सही तौर पर बता सकता है। किन्तु केवल विधि बताने से काम नहीं चलेगा। उससे प्रीति और प्रतीत का नाता जोड़ना होगा। ज्यों-ज्यों वह नाता गहरा होता जायेगा, उसकी कृपा की धार निरन्तर मिलती रहेगी और उसी के द्वारा संसार के बन्धन टूटते चलेंगे। मन के परदे फटते चलेंगे और अन्तर में उनका विशाल रूप दिखाई देने लगेगा। जब और अन्तर में धसेगा तो उसका अपना रूप, गुरु का रूप और परमेश्वर का रूप एक ही दिखाई देगा। ध्याता, ध्यान और ध्येय - एक हो जायेंगे ।

ईश्वरीय शक्ति, जिसे नारायणी शक्ति भी कहा गया है, और जो अमृत-रूप है, उसका आकार बनने पर प्रवाह होता है। हमें जहाँ तक उसका भान होता है, वहाँ तक हमारे लिए उसकी सीमा है। स्थूल वस्तुओं का भान स्थूल चीज़ों द्वारा ही हो सकता है, जैसे सुगन्ध और स्वाद का भान नाक और जिहवा द्वारा अनुभव किया जा सकता है । जब मालिक ने अपने को प्रकट

किया तब पहले शब्द हुआ फिर आकार बना। यह सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है और जब तक मनुष्य अपने अन्तर में उतनी सूक्ष्मता पैदा न कर ले, उसका भान नहीं हो सकता। यह सब सतगुरु की शरण में आने से ही होगा ।

जब उस आदि-शक्ति की धार मनुष्य चोले में उतरी तो उसने अपने अलग घाट या चक्र बनाये। यह धार ज्यों-ज्यों नीचे की ओर उतरती गयी, मन ओर माया के सम्पर्क में आकर मलिन होती चली गयी। हर मलिनता एक आवरण बनाती गयी । यों तो हर घाट या चक्र पर वह धार मौजूद है ओर वहाँ उसका एक विशेष मण्डल है, किन्तु वह आवरणों से युक्त है। जब वह आवरण फटें, मलिनता दूर हो, तब उस अनाम, अरूप का पता लगे ।

जैसा की ऊपर कहा गया है, आवरण इतने अधिक हो गए हैं कि मालिक घट-घट वासी होते हुए भी बहुत दूर हो गया है। आवरणों के कारण असलियत छिप गयी है। है कुछ, ओर दीखता कुछ और है। भ्रम पैदा हो गया है। द्रष्टा और दृश्य (अर्थात् देखने वाला और देखा जाने वाला) इन दोनों में बहुत दूरी हो गयी है। आवरणों के आ जाने से अन्दर का सही हाल और वास्तविक ज्ञान मालूम नहीं हो पाता। केवल सतह दिखाई देती है । उसके भीतर कौन सी शक्ति क्या काम कर रही है, इसका भान नहीं होता ।

बहुधा लोगों का यह विचार होता है कि जब तक सतगुरु कोई चमत्कार न दिखावें, तब तक उनसे प्रीति और प्रतीति कैसे पैदा हो ? संतों को सर्व शक्तियाँ हासिल होती हैं। किन्तु उनके समस्त व्यवहार लोक-कल्याण के लिए होते हैं। चमत्कार जहाँ बहुत आवश्यक हो, वहीं दिखाते हैं, जैसा कि प्रत्येक महापुरुष के जीवन-चरित्र से ज्ञात होता है। लेकिन उसको रिवाज़ की सूरत नहीं दी जाती। चमत्कार से जो प्रीति और प्रतीति पैदा होती है वह स्थायी नहीं होती। वह मन के ऊपर आधारित होती है। मन बार-बार वैसा ही चमत्कार देखना चाहता है जो वह एक बार देख चुका है और जिनका वह आदी हो गया है। जो ऊंचे दर्जे के संत हुए हैं उन्होंने बाहरी चमत्कार नहीं दिखाए, अन्तर में अपने प्रेमियों को खूब चमत्कार दिखाए हैं। अन्तर में आत्मिक आनन्द और सरूर मिलना चमत्कार ही तो है। वह ऐसी वस्तु है जो बाहर कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकती। चमत्कार द्वारा चाहे किसी की कितनी भी इच्छायें पूरी कर दी जाएँ, किन्तु किसी समय उसकी एक बार कोई इच्छा पूरी नहीं की गयी तो वह रुष्ट होकर चला जायेगा और पथ-

भ्रष्ट हो जायगा। आन्तरिक आनन्द का रस ही अन्तर में अन्तर की ओर खींचता है। बाहर का आनन्द बाहर को ही आकर्षित करेगा। चमत्कार में राजी रहने वाला सदा चमत्कार ही माँगेगा। बाहर चमत्कार दिखाने वालों के चारों तरफ़ झूठों की भीड़-भाड़ रहती है। सच्चे जिज्ञासुओं का वहाँ सिवाय अकाज के कुछ नहीं होता ।

जब कोई शक्ति स्फुरण में आती है, रवां होती है तब पहले ध्वनि होती है। उस ध्वनि की जो गुंजार होती है वह अपना एक मण्डल या आकार (field) बनाती है और फिर उसका प्रवाह होता है। इसी प्रकार आदि-शक्ति अथवा इसका अनुभव नहीं हो पाता। यदि सारे आवरण हट जायें तब भी उसका पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता, केवल एक झलक मिलती है। जब द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य - तीनों एक हो जायें, वहाँ दृष्टि के पूर्ण ज्ञान का आनन्द है।

इन्द्रियों के द्वारा और बाहर की प्रवाह में आयी ओर उन्हीं के द्वारा संसार में व्यवहार हो रहा है और बाहर वस्तुओं का ज्ञान होता है। वहीं पाँच ज्ञानेन्द्रियों (श्रवण, दृष्टि, धाण और त्वचा) की सहायता से उलट धार करने की कार्यवाही हो सकती है। जितनी उनकी पहुँच है उतनी ही दूर तक इनके व्यवहार को एक सीमा तक रखो, शेष को अन्तर में लगाओ। श्रवण और दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाओ, रसना से नाम का सुमिरन करो। धाण और त्वचा से अपने ध्यान को हटाकर भीतर की ओर लगाओ। जब इस तरह करोगे और इस काम में सतगुरु की मदद और कृपा का आसरा लोगे, तब सब तरफ़ से ध्यान हटाकर पर्दे फटने लगेंगे, ध्वनि सुनाई देने लगेगी, प्रकाश चमकने लगेगा और उसके आकर्षण में धीरे-धीरे एक चक्र में दूसरे चक्र पर पहुँचते हुए अन्त में धुरधाम में पहुँच जाओगे।

(राम

सन्देश : मई-जून २००७)

गुरु सेवक चराचर

शिष्य की आस्था तीन तरह की होती है - सेवा की आस्था, पूजा की आस्था और भक्ति की आस्था। सेवा की आस्था तन-मन-धन की, पूजा की आस्था विनय-विश्वास-दीनता की और भक्ति की आस्था प्रीति-प्रतीति-श्रद्धा की होती है। तीनों ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष की साधना हैं ।

गुरु की देह शिष्य के लिए तीर्थ है । गुरु को हरारत हो तो उनके पाँव दबाना अहोभाग्य है, उन्हें थकान हो तो पंखा झलना परम् पुरुषार्थ है, उनकी सुख-सुविधा का ख्याल रखना मर्यादा है। हाथपाँव की सेवा से गुरु प्रसन्न होते हैं लेकिन यह बहुत महत्वपूर्ण बात नहीं है । हाँ, इसका भी अपना माहात्म्य है ।

गुरु का शरीर ईश्वर का मन्दिर है, पर मन्दिर की परिक्रमा काफ़ी नहीं है। मन्दिर तक पहुँच गए तो उसके भीतर के ईश्वर से भी भेंट कर ही लेना है। मन्दिर की राह याद है, तो भीतर के भगवान को भूलना नहीं है । मन्दिर की मरम्मत लाज़िम है, रंग-रोगन होना ही चाहिए - पर पूजा तो भीतर के भगवान की ही होगी। मन्दिर का रख-रखाव ज़रूरी है, पर अनिवार्य तो भगवान की आराधना ही है। मन्दिर के कलश की रक्षा होनी चाहिए, पर पीना तो अमृत ही है ।

गुरु की निकटता भौगोलिक नहीं है, निकटता आत्मिक है। समीपता जागरण है। गुरु के मन के समीप होना है। गुरु को घेरे रहना सेवा नहीं है। यह तो दीप बुझाने की विधि है । जो देह ही को गुरु मानते हैं वे ज्योति से चुक जाते हैं। प्रकाश के लिए लौ को पकड़ना नहीं है, जैसे सुगन्धि के लिए फूल को मुट्ठी में बांधना नहीं है। शरीर की सेवा तो अविवेकी शिष्य करता है, वह भरत जैसा स्नेही नहीं होता ।

कुछ लोग गुरु की बराबरी में बैठते हैं - यह गुरु को अच्छा लग सकता है पर शिष्य के पक्ष में यह बेअदबी है। ऐसे शिष्य अहंकार से खाली नहीं हो सकते। गुरु के दायें-बायें लगे रहने में मालकियत की बू आती है। अपनी पहचान बनाये रखने के लिए गुरु को घेरे रहना भी घातक

होता है। रौशनी नहाने के लिए नहीं है। ऐसे लोग गुरु से आगे दीखने का दम्भ भरते हैं। ये अपने को दावेदार मानते हैं और इनको परमपद की सूचना भी नहीं होती। - शायद इनकी नज़र पद पर ही होती है - और फिर ये गद्दी के हकदार हो जाते हैं।

सच्चा शिष्य देह से दूरी बनाये रखता है। गुरु के समीप वह तब आता है, जब वह तैयार हो जाता है। वह गुनगुने प्यार से तृप्त नहीं होता, वह तो सूक्ष्म उड़ान की प्रतीक्षा करने के लिए अपने को मिटाने में लगा रहता है, अपने को छिपाने में लगा रहता है। अतः वह भीड़ से दूर रहता है।

भक्ति अपने को गुरु में लय करने की कला है, और यही परम् सेवा है। इस आस्था का शिष्य गुरु का उपयोग दर्पण की तरह करता है - कभी समीप गया, गुरु के चेहरे से अपना चेहरा मिलाया और फिर अपने को सजाने में लग गया। वह अपने को गुरु प्रेम के नशे में डुबाये रहता है। गुरु की याद में खोया रहता है। गुरु के रंग में वह सरोबोर रहता है। वह गुरु के ध्यान में मस्त रहता है। उस पर सदा गुरु-प्रेम की खुमारी रहती है।

गुरु-भक्त के मन-प्राण में "गुरु-मंत्र" की गूँज रहती है। 'गुरु' उसका जप होता है। उसकी साँसों में "गुरु-गुरु" की तार लगी रहती है। उठते-बैठते, सोते-जागते, करवट लेते, डकारते-जम्हाई लेते, वह "गुरु-मंत्र" की माला जपता है। 'हे गुरुदेव', 'जय गुरुदेव', 'मेरे गुरुदेव' आदि की वह रटन लगाए रहता है। 'जय गुरुदेव' उसके जीवन की टेक हो जाती है। दिन में, रात में, प्रातः में - वह 'श्री गुरु', 'सद्गुरु' का अखण्ड कीर्तन करता रहता है।

गुरु में भगवान दीखे बिना गुरु-भक्ति शुरु नहीं होती। और भगवान दीखता है अंतर्दृष्टि से, अंतर्भाव से, सदभावना से, प्रीति-प्रतीति से। आत्म-शुद्धि और आत्म-परिष्कृति से गुरु से अभेद प्रतीति होती है। जब दूरी मिटती है तो तड़प होती है। ऐसा शिष्य गुरु के लिए तड़पता है /, रोता है, बिलखता है। गुरु की याद में आवेशित हो जाता है। उसकी आँखें डबडबायी रहती हैं /

गुरु परम् धनी होता है। हम धन से उसकी क्या सेवा करेंगे ? उसकी अधिकाँश ज़रूरतें प्रकृति पूरा कर देती है। वह अपनी आवश्यकताओं को इतनी कम रखता है कि अपनी परवाह ही नहीं करता। रूपये पैसे तो बच्चों के खेलने की चीज़ें हैं, सयानों को उनमें क्या आकर्षण ?

इस राह में पैसे बहुत दूरी तक मदद नहीं करते। अगर गुरु-सेवा की राह में पैसा लगाना ही चाहते हैं तो उससे सत्संगी भाइयों की मदद करें, इससे गुरु प्रसन्न होंगे। अगर पैसे सच्ची कमाई के हैं तो प्रसाद-स्वरूप फल-मिठाई ला सकते हैं। गंदी कमाई के पैसे से गुरु की तपस्या लांछित न करें। गरीबों को अन्न-वस्त्र दें, निर्धनों को भंडारा दें, कंगालों की मदद करें, गरीब छात्रों की मदद करें। सन्मार्ग पर परमार्थ करें तो गुरुकृपा बरसेगी। भंडारे में भाइयों को भोजन कराएँ, पत्तलें उठाएँ, यही गुरु की प्रिय तन-सेवा होगी।

सही तो यह है कि गुरु के पास कुछ पाने को जाते हैं, देने को नहीं। धन से गुरु की सेवा करने वाला दम्भ से ऊपर नहीं उठ सकता। तन की सेवा करने वाले का अहंकार पीछा नहीं छोड़ता। गुरु से जो मिलता है वह विराट है और हम जो देते हैं वह क्षुद्र है। वह साम्राज्य देता है हृदय का, और हम देते हैं पाप और अहंकार। बल्कि हम अपना अहंकार भी देना नहीं चाहते हैं।

गुरु के भीतर आनन्द उमड़ रहा है, वह खुशियाँ लेकर क्या करेगा। वह आकाँक्षा और वैभव की तरफ झाँकता भी नहीं। विराट में खोया व्यक्ति, तुच्छ की आशा ही क्यों करे ? जो अमृत-वर्षा में भीग रहा है वह ढाबर-गढ़े में भला क्यों नहाये ? जो धुर के संगीत में मस्त है वह दादुर-धुन पर कैसे रीझे ? वस्तुतः रुपया-पैसा तो निकृष्ट दान है भी।

गुरु तो चाहता है कि आश्रितों का उद्धार हो। भक्तों का बेडा पार हो, सेवक को आत्म-साक्षात्कार हो, प्रेमी को ईश्वर का दीदार हो। गुरु हमसे जो चाहे, वही करना गुरु सेवा है। गुरु को जो बात प्रिय हो, वही पूजा है। गुरु जिस कार्य से प्रसन्न हो, वही उपासना है। और गुरु जैसे रखे, वही साधना है।

गुरु की सेवा कृतग्यता है, आत्मतोष है । गुरु की सेवा कर कृतार्थ हम होते हैं । सेवा से तपस्या हमारी खड़ी होती है। त्याग हममें आता है। सेवा से हम भरोसामंद बनते हैं। हम निर्मल बनें कि गुरु हमें प्यार करें। हम दीन बनें कि गुरु हमें गले लगायें ।

गुरु स्वयं सेवक है। उसका काम भी सेवक बनाना है। शिष्य की सेवा वह इसलिए लेता है कि शिष्य सेवक बन सके। शिष्य तैयार करना तो सेवक तैयार करना है ।

सेवा में यदि कर्ताभाव आ जाता है तो वह बंधन है। सेवा में प्रेमभाव है तो वह मुक्ति है। कर्ताभाव के पीछे अहंकार होता है। सेवा स्वभाववश हो तो पूजा है, सहज हो तो भक्ति है। सेवा तो उपकृत होने का मार्ग है। गुरु की सेवा यही है कि हम सच्चे शिष्य बन जायें, सेवक बन जायें। सेवा गुरु के ऋण से उऋण होने की कला है, उपकार का बदला है। इसी कारण सेवा को उत्तम कर्म कहा गया है ।

राम सन्देश : सितम्बर, १९९१

विवेक विचार

सच्चा आश्रय - सन्तों की वाणी

किसी न किसी का आश्रय लेना मनुष्य मात्र का स्वभाव है। ऐसे तो जीवमात्र किसी न किसी का आश्रय लेना चाहता है, किसी न किसी को आधार बनाना चाहता है। ऐसा स्वभाव क्यों है ? क्योंकि यह परमात्मा का अंश है, अतः अगर यह परमात्मा का ही आश्रय ले तो फिर इसको दूसरा आश्रय लेने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। परन्तु जब तक यह परमात्मा का आश्रय नहीं लेता, तब तक यह अनेक आश्रय लेता रहता है। लेना तो चाहिए भगवान का आश्रय परन्तु उस जगह दूसरा आश्रय ले लेता है। धन का आश्रय ले लेता है, परिवार का आश्रय ले लेता है, विद्या का आश्रय ले लेता है, योग्यता का आश्रय ले लेता है, बल का आश्रय ले लेता है। पर यह आश्रय टिकते नहीं। आश्रय परमात्मा का ही लेना चाहिए, यह बात समझने में ठीक दीखती है और इसे मानते भी हैं। पर दूसरा आश्रय छोड़ते क्यों नहीं ? यद्यपि दूसरा आश्रय पूरा छोड़ने में आप पराधीन नहीं हैं, स्वाधीन हैं। परन्तु दूसरे का विशेष आश्रय लेने से, उसका सुख पाते रहने से एक वहम हो गया है कि इनका आश्रय छोड़ने पर हम कैसे रहेंगे ? हमारा निर्वाह कैसे होगा? ऐसा भाव होने से मन में कायरता आ गयी है और मनुष्य इनका आश्रय नहीं छोड़ सकता।

जब गाढ़ी नींद आती है, उस समय किसका आश्रय रहता है ? किसी का भी आश्रय नहीं रहता, परमात्मा का भी आश्रय नहीं रहता। बेहोशी में संसार का आश्रय तो छूटता है, पर मूढ़ता (अज्ञान) का आश्रय रहता है। यह जो वहम है कि संसार के आश्रय के बिना हम जी नहीं सकेंगे, तो फिर सुषुप्ति में आप कैसे जीते हैं? सुषुप्ति में संसार का आश्रय न रहने

पर भी हम जीवित रहते हैं। कृपा करके एक और बात की तरफ़ आप ध्यान दें। संसार का आश्रय लेने से इतना सुख नहीं मिलता, जितना सुख संसार का आश्रय छोड़ने से नींद में मिलता है। संसार का आश्रय छोड़ने से जो सुख मिलता है, जो ताज़गी मिलती है, जो काम करने का शक्ति-संचय होता है, वह संसार का आश्रय लेते हुए नहीं होता। शक्ति का संचय दूर रहा, उलटे शक्ति खर्च होती है। धन, परिवार, बुद्धि, योग्यता, आदि किसी का भी आश्रय लेते रहने से आप बेचैन हो जाते हैं, थक जाते हैं। आपकी शक्ति क्षीण हो जाती है। फिर आप सबको छोड़ कर सो जाते हैं। सोते-सोते आपमें पुनः शक्ति आ जाती है। इस प्रकार संसार का आश्रय छूटने से आपके पास बहुत विलक्षण ताक़त आएगी और परमात्मा का आश्रय लेने से ताक़त का कोई पारावार नहीं रहेगा। इतनी असीम, अपार ताक़त आएगी कि फिर भय, चिन्ता आदि रहेंगे ही नहीं। उसी के लिए कहा है -

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकंततः

(गीता अध्याय ६ श्लोक २२)

उससे बढ़कर कोई लाभ हुआ नहीं है, न ही होगा, न ही हो सकता है। परन्तु वह नाशवान आश्रय छोड़ने से ही मिलता है।

आपसे ग़लती यह होती है कि जिसको आप नाशवान मानते हैं, जानते हैं, पर उसका आश्रय नहीं छोड़ते। जप-ध्यान करते हैं, कीर्तन करते हैं, चिन्तन करते हैं, पर साथ-साथ नाशवान का आश्रय भी रखते हैं। नाशवान संसार का आश्रय छोड़े बिना परमात्मा का आश्रय पूरा नहीं लिया जाता। पूरा आश्रय लिए बिना पूरी शक्ति नहीं मिलती। परमात्मा की तरफ़ से कोई कमी नहीं है। आप परमात्मा का जितना आश्रय लेंगे, उतना आपको आश्वासन मिलेगा, शक्ति मिलेगी, लाभ होगा। परन्तु संसार का आश्रय सर्वथा छोड़कर परमात्मा के आश्रित हो जाओगे तो अपार बल मिलेगा। वो परमात्मा कहाँ है ? वो तो सबके हृदय में है :-

' सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो (गीता आ १५-१५)

ईश्वरसर्वभूतानां हृदशे अर्जुन तिष्ठति ' (गीता १८-६१ श्लोक)

वे सम्पूर्ण जीवों के भीतर हैं, परन्तु यह (जीव) बाहर की तरफ़ देखता है, भीतर की तरफ़ देखता ही नहीं।

आप अपने को मानते हो कि मैं हूँ उस मैं-पन का आश्रय आत्मा है और आत्मा का भी आश्रय परमात्मा है।-

' ममै वाशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ' (गीता अध्याय १५ श्लोक)

आपकी आत्मा उस परमात्मा का अंश है। आप एक क्षेत्र में हैं और आपका अंश परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्रों में है।

क्षेत्रग्य चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत (गीता आ १३ के श्लोक २ में)

गोपिकाओं ने कहा है - ' नखलु गोपिकानंदनों भवानखिल देहिनामान्तरातम्हक'

आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं। प्रत्युत जितने भी शरीरधारी हैं- चाहे वे स्थावर हों, जंगम हों, देवता हों, राक्षस हों, भूत प्रेत-पिशाच हों, नरकों में रहने वाले हों, भजन-ध्यान करने वाले हों, तत्वज्ञ जीवन्मुक्त हों, भगवत प्रेमी हों, उन सबकी अन्तरात्मा के द्रष्टा आप हैं। पर ऐसा होते हुए भी आप यहाँ आ कैसे गए ?

ब्रह्माजी ने प्रार्थना की तो आप प्रकट हुए। प्रार्थन की संसार की रक्षा करने के लिए क्योंकि संसार की रक्षा आप ही कर सकते हैं, और किसी में ताकत नहीं है करने की। आप इन यादवों के कुल में प्रकट हुए हैं - ' उदेयिवान ' , पैदा नहीं हुए हैं। जैसे, सूर्य का उदय होने से पहले भी सूर्य है। जब वह हमारे सामने आ जाता है तब उसका उदय होना कहते हैं। ऐसे ही वे परमात्मा प्रकट होते हैं, हमारे शरीरों की तरह जन्म नहीं लेते।

मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीर-व्यक्ति-वस्तुएँ-पदार्थ-रूपये-पैसे आदि कोई भी आपका नहीं है, आपके साथ रहता नहीं है। प्रतिक्षण आपसे अलग हो रहा है, फिर भी आप इनका आश्रय लेते हैं। ये मन, बुद्धि आदि के तो आप आश्रित रहते हैं, पर अपने आश्रित रहने वाली वस्तुओं का आप आश्रय लेते हैं। अपने उद्योग से पैदा होने वाले धन का आप आश्रय लेते हैं - आप ये गलती करते हैं। इनका आश्रय न लेकर एक भगवान का आश्रय लें -

**' मामेकं शरणं ब्रज (गीता १८-६६) तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !
तत्प्रसादात्तत्राम शान्तिं स्थानं प्राप्ससि शाश्वतं (गीता १८-६२)**

जो सबके हृदय में विराजमान है, उस ईश्वर की ही सर्वभाव से शरण ले लो। उसकी कृपा से परम शांति (संसार से - सर्वथा उपरति) और अविनाशी परमपद की प्राप्ति हो जाएगी। भगवान का आश्रय लेने में हम सब के सब स्वतंत्र हैं, कोई भी पराधीन नहीं है। उनका आश्रय लेने में कोई अयोग्य भी नहीं है।

आप इसी क्षण परमात्मा का आश्रय ले सकते हैं क्योंकि वह आपके पास है और आप उसके पास हैं। वह आपसे अलग नहीं हो सकता और आप उससे अलग नहीं हो सकते। अगर वह आपसे अलग हो जाये तो ईश्वर दो हो जायेंगे, एक वह और एक आप। उसकी जो अखण्डता है, सर्वोपरि भाव है। व्यापकता है वह खण्डित हो जाएगी। आपसे अलग होने पर उसकी महत्ता रहेगी ही नहीं। अतः वह आपसे अलग हो ही नहीं सकता। आप भी उससे अलग नहीं हो सकते। ऐसे ही आप अपने को संसार के आश्रित मान सकते हो, पर आश्रित हो नहीं सकते। आपने शरीर का आश्रय लिया, धन का आश्रय लिया, कुटुम्ब का आश्रय लिया, बल-बुद्धि का आश्रय लिया, पर क्या आप इनके आश्रित रह सकते हैं ? इनके आश्रित कोई रह ही नहीं सकता। फिर भी आप इनका आश्रय मान लेते हैं। आप यह गलती करते हैं क्योंकि यह आश्रय निभनेवाला नहीं है। इनका साथ रहने वाला नहीं है, सब छूटने वाला है। अतः इनसे विमुख होकर एक भगवान का ही आश्रय लें, औरों का आश्रय न लें। धन का सदुपयोग करें, सब काम करें, परन्तु आश्रय एक भगवान् का ही रखें। संतों ने कहा है -

' पतिव्रता रहे पति के पासा , यों साहिब के ढिंग रहे दासा '

जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के आश्रित रहती है, ऐसे ही भक्त भगवान् के आश्रित रहते हैं। जगत जननी जानकी जी अपने सास-ससुर को माता-पिता से भी अधिक आदर देती थीं, परन्तु जब भगवान् बनबास के लिए पधारे तब जानकी जी ने उनको (आपने सास-ससुर को) भी छोड़ दिया। दशरथ जी यहाँ तक कह दिए कि, " अगर जनक राजदुलारी यहाँ रह जायें तो मेरे प्राण रह सकते हैं"। फिर भी वे रहीं नहीं। वे कहती हैं कि, " मैं, रह सकती ही नहीं।

चाँदनी चन्द्रमा को छोड़कर कैसे रह जाय ? सूर्य की प्रभा सूर्य को छोड़कर कैसे रह जाय ? शरीर की छाया शरीर को छोड़कर कैसे रह जाया"

ऐसे ही कोई भी जीव परमात्मा से अलग होने वाले संसार का आश्रय लेता है। इसी से यह दुःख पा रहा है। अगर यह अलग होने वाले का आश्रय न ले और सदा साथ रहने वाले का आश्रय ले ले तो निहाल हो जाये। आप अभी यह निश्चय कर लें कि हम संसार का काम करेंगे, पर संसार का आश्रय नहीं लेंगे। इतने दिन संसार से लिया है, अब उसका कर्ज उतारने के लिए काम करना है, लेकिन आश्रय नहीं लेना है। संसार आश्रय लेने के योग्य है ही नहीं क्योंकि यह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता। यह इतनी तेज़ी से बदलता है कि इसको दुबारा नहीं देख सकते। केवल बदलने के पुंज का नाम संसार है। जैसे भगवान कृपा की मूर्ति हैं, ऐसे ही यह संसार बदलने की मूर्ति है। बदलने के सिवाय इसमें और कुछ है ही नहीं। ऐसे संसार का आश्रय आपने मान रखा है। अब इससे विमुख होकर केवल भगवान के चरणों का आश्रय ले लें, और अभी ले ले, अभी ।

मेरे तो गिरधर गोपाल, दुसरो न कोई !

एक बानि करुणानिधान की ! सो प्रिय जाके गति न आन की !!

दूसरे का आश्रय न लें !! सर्वभाव से भगवान के शरण हो जायें !

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन ! (गीता अ। १८, श्लोक ६२)

स -सर्वविदमजती मां सर्वभावेन (गीता अ। १५ श्लोक १९)

सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम् प्रिय सोई !! (मानस ७/८७)

वास्तव में भगवान के साथ आपका स्वतः सिद्ध घनिष्ट सम्बन्ध है। बदलने वाले संसार के साथ सम्बन्ध न जोड़ें - इतनी सी बात है। - यही संतों की वानी है, गुरुओं की शिक्षा है।

- अवधेश गिरि, मुज़्ज़फरपुर

राम सन्देश: अगस्त १९९२

मानस मंथन

प्रभु के निकट पहुँचने का सरल साधन - सुमिरन

तुलसी नित्य सनेह सो, सुमिरहु सीताराम !

सगुन सुमंगल शुभ सदा, आदि मध्य परिणाम !!

यदि हम नित्य प्रेमपूर्वक मालिक का स्मरण करें तो इससे सभी का लाभ होगा, सब प्रकार से मंगल होगा और आदि, मध्य तथा परिणाम - सब समय कल्याण होगा। हमको अपने मन को एकाग्र करके मालिक के ध्यान में लगाना होगा। सब कुछ से अपने मन को हटा कर मालिक के ध्यान में रहें। मालिक अवश्य मदद करेंगे। वही तो सबका एक मात्र सहारा हैं।

राम भरोसे, राम बल, राम नाम विश्वास !

सुमिरत शुभमंगल कुशल, माँगत तुलसीदास !!

तुलसीदास तो मात्र यही माँगते हैं कि उन्हें केवल राम का ही भरोसा हो, केवल राम का ही बल, और एक राम नाम पर ही विश्वास हो, क्योंकि राम नाम का सुमिरन करने मात्र से सभी प्रकार का शुभ मंगल और कल्याण होता है।

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करै न कोय !

जो सुख में सुमिरन करें , तो दुःख काहें को होय !!

यह स्वार्थ का संसार है। इसमें दुःख में तो सभी परमात्मा का सुमिरन करते हैं परन्तु सुख में कोई सुमिरन नहीं करता। माया मोह के सुख में सभी परमात्मा को भूल जाते हैं। यदि हम सुख में भी सुमिरन करते रहें तो दुःख होगा ही क्यों ? अतः हमें दुःख तथा सुख दोनों ही स्थितियों में समान रूप से प्रभु का सुमिरन करते रहना चाहिए।

जिसको सुख और दुःख दोनों सम लगता है, एक-जैसा लगता है, वही मालिक की चाकरी कर सकता है। दीनता को तो अपना ही होगा। मालिक को किसी वस्तु या पदार्थ की भूख नहीं है, उन्हें तो केवल प्रेम की भूख है - "रामहि केवल प्रेम पियारा "। अपने मन को बुरे विचारों से हटाकर मालिक के आदर्श गुणों को ग्रहण करें। सत्संग करें, कुसंग से बचें। सत्संग अमृत है तो कुसंग विष है। सत्संग प्रकाश है तो कुसंग अन्धकार है। प्रार्थना सतत करते रहें।

थोड़ा सुमिरन बहुत सुख, जो करि जानै कोय !

हल्दी लगे न फिटकरी, चोखा ही रंग होय !!

यदि थोड़ा भी सुमिरन करें तो बहुत सुख मिलता है। परन्तु इसे वही जानता है जो सुमिरन करता है। सुमिरन करना इतना सुगम है कि इसमें कुछ भी खर्च नहीं होता। हल्दी लगती है न फिटकरी परन्तु रंग बहुत ही चोखा यानी सुन्दर आता है।

मो सम दीन, न दीन हित, तुम समान रघुबीर !

अस विचार रघुवंश मनि, हरहु विषम मम भीर!!

हे रघुकुल शिरोमणि राम ! मुझ जैसा कोई दीन नहीं है और आपके समान दीनों का हित करने वाला नहीं है - ऐसा विचार कर आप मेरे जन्म -मरण के भयानक भय को दूर कीजिये। भक्ति-साधना में सुमिरन का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। सुमिरन भक्ति की वह शान्त, सहज और रहस्यपूर्ण अद्भुत प्रक्रिया है जिसे कोई अन्य व्यक्ति नहीं देख सकता।

सद्गुरु की शरण में आकर जिज्ञासु भक्त, सच्चा सेवक, जिस नाम-ज्ञान (आत्मबोध) की दीक्षा ग्रहण करता है, उससे सुमिरन का अटूट सम्बन्ध है। जहाँ प्रेम और भक्ति है, वहाँ सुमिरन अवश्य ही विद्यमान रहता है।

सुमिरन के माध्यम से भक्तों के मानस- मन्दिर में प्रभु की मधुर स्मृति मुस्कराती है। सुमिरन साधक-भक्त की आन्तरिक साधना है। इसमें समय और स्थान का बन्धन नहीं है। सुमिरन हर समय और किसी भी स्थान पर रहते हुए किया जा सकता है। मालिक को अपने साथ रखोगे तो जहाँ भी जाओगे, वहीं भक्ति कर सकोगे।

तू सुमिरन अपने घट (हृदय) के भीतर कर रहा है। इसी घट के भीतर सत्यज्ञान का अपार भंडार भी मिल जायेगा, अर्थात् जहाँ पर तू - वहीं वह परमात्मा तथा वहीं पर उसका आलौकिक ज्ञान भंडार है।

राम नाम कलि काम तरु, राम भगति सुर धेनु !

सगुण सुमंगल मूल जग, गुरुपद पंकज रेणु !!

कलियुग में राम नाम मन चाही वस्तु देने वाला कल्पवृक्ष है और रामभक्ति कामधेनु है। इस जगत में गुरुदेव के चरण-कमलों की धूलि सारे शुभ प्रसंगों तथा कल्याण की जड़ है, प्रदायक है।

राम नाम को सुमिरते, उधरे पतित अनेक !

कबीरा नहीं छाँड़िये, राम नाम की टेक !!

राम नाम का सुमिरन करते हुए अर्थात् आत्मज्ञान का आचरण करते हुए, अनेक पतितों का उद्धार हुआ है। संत प्रवर कबीर साहब कहते हैं कि केवल राम नाम ही एक मात्र आधार है, इसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। राम नाम के निरन्तर सुमिरन से ही हमारा कल्याण होगा।

श्री टी।एन। सिन्हा, आरा (बिहार)

राम सन्देश : सितम्बर-अक्टूबर , २००३

' रामचरितमानस ' में 'नाम' की महिमा

आध्यात्म में 'नाम' की महिमा अपरम्पार है। ऋषि-मुनियों, साधु-संतों तथा साधकों द्वारा नाम की महिमा का गुण-गान युगों-युगों से किया गया है। नाम को भवसागर से पार करने एवं ईश्वर से साक्षात्कार करने का सबसे उत्तम एवं सुगम साधन माना गया है।

' नाम' के विषय में कहा गया है कि 'नाम' वह सीढ़ी है जो नाम लेने वाले को 'नामी' तक पहुँचा देती है, अर्थात् उसे ईश्वर तक पहुँचा देती है। 'नाम' मनुष्य को सभी पापों से मुक्त करा कर परमेश्वर में लय करा देता है। 'नाम' सर्व-गुण-सम्पन्न है। पूज्य गुरुदेव (परमसन्त डॉ करतारसिंह जी महाराज) के शब्दों में -"सभी रोगों की औषधि 'नाम' है। वास्तव में 'नाम' और ईश्वर में कोई अंतर नहीं है। "

तुलसीदास जी का 'नाम' - राम नाम

'नाम' अनेक हैं। यह 'राम', ' कृष्ण', ' हरि'। ' ॐ ' - कुछ भी हो सकता है, पर परमसंत तुलसीदास जी 'राम' के उपासक थे अतः उन्होंने 'राम नाम' का ही सहारा लिया और उन्होंने राम नाम की ही महिमा भी बताई है। 'रामचरितमानस' में उन्होंने राम नाम का ही गुण-गान किया है क्योंकि वह यह मानते थे कि राम नाम पावन वेद-पुराणों का सार है -

इहि मँह रघुपति नाम उदारा !

अति पावन पुराण श्रुति सारा !!

तथा राम नाम मंगल का घर और अमंगल का नाश करने वाला है।

मंगल भवन अमंगल हारी !

राम नाम को परमेश्वर के सभी नामों में श्रेष्ठ माना गया है -

परमेश्वर नामानि सत्यनेकानि पार्वती ! परंतु राम नाम सर्वेषामुत्तमोत्तमम !!

नारायणादि नामानि कीर्त्तनानि बहून्यपि ! आत्मा तेषांच सर्वेषां राम नाम प्रकाशकः !!

अर्थात् परमात्मा के नाम अनेक हैं परन्तु राम नाम सबसे उत्तम है। नारायण आदि अनेक नामों की महिमा है पर राम नाम उन सबकी आत्मा है।

नाम - ब्रह्म, राम एवं निर्गुण-सगुण सबसे बड़ा

परमसन्त एवं ज्ञानी तुलसीदास जी नाम को ब्रह्म एवं राम दोनों से और निर्गुण-सगुण सभी से बड़ा बताते हैं। वे कहते हैं -

ब्रह्म राम ते नाम बड़, वरदायक वरदानि ! ,,,,,,,,,,तथा

उभय अगम युग सुगम नाम ते ! कहहुँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते !!

नाम - ब्रह्म और राम दोनों से बड़ा है और वर देने वाले को भी वर देने वाला है। ब्रह्म और राम दोनों अगम हैं पर नाम दोनों से ही सुगम है। इसलिए नाम दोनों से बड़ा है। व्यास जी ने भी कहा है -

राम नाम परब्रह्म सर्वदेव प्रपूजितम !

अर्थात् राम-नाम ब्रह्मा जी से भी परे है जो सभी देवों द्वारा पूजा जाता है। तुलसीदास जी तो नाम को निर्गुण और सगुण दोनों से भी बड़ा मानते हैं। वे कहते हैं निर्गुण और सगुण दोनों ब्रह्म स्वरूप हैं, वे अवर्णनीय, अति गंभीर, अनादि और अरूप हैं - पर नाम दोनों से बड़ा है जिसने अपने बल से दोनों को अपने बस में कर लिया है -

अगुण सगुण दोउ ब्रह्म स्वरूपा ! अकथ अगाध अनादि अरूपा !!

मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते ! किय जेहि जुग निज बस निजबूते !!

नाम नामी से भी बड़ा

तुलसीदास जी की दृष्टि में नाम नामी से भी महान है जैसा कि उन्होंने कई दृष्टांतों द्वारा समझाया है कि जहाँ राम ने अपने पराक्रम से कुछ किया वहाँ नाम ने उनसे भी अधिक महिमा दिखाई है। उदाहरण स्वरूप -

राम एक तापसतिय तारी ! नाम कोटि खल कुमति सुधारी !!
भंजेउ राम आप भव चापू ! भवभय भंजन नाम प्रतापू !!
दंडक वन प्रभु कीन्ह सुहावन ! ऋषिजनमन अमित नाम किय पावन !!
निशिचर निकर दले रघुनन्दन ! नाम सकल कलि कलुष निकन्दन !!
ऋषि हित राम सुकेतु सुता की ! सहित सेन सुत कीन्ह विवाकी !!
सहित दोष दुःख दास दुराशा ! दसई नाम जिमि रवि निशि नाशा !!

अर्थात् जहाँ राम ने एक तपस्वी की स्त्री अहिल्या को तारा वहाँ नाम ने करोड़ों दुष्टों की कुबुद्धि को सुधारा है। राम से संसार के एक (शिव जी के) धनुष्य को तोडा पर नाम का प्रताप संसार के सारे भय को तोड़ने वाला, अर्थात् नाश करने वाला है। राम ने तो एक दंडक वन को सुहावन किया पर नाम ने तो अनेकों मनुष्यों के मन को पवित्र कर दिया। राम ने राक्षस के समूहों का नाश किया पर नाम ने तो कलियुग के समस्त पापों का नाश कर दिया है। राम ने ऋषि (विश्वामित्र) के हित के लिए तड़का तथा उसके पुत्रों का सेना सहित बध किया पर नाम तो भक्तों की दोष दुःख सहित निराशा का इस प्रकार नाश कर देता है जैसे सूर्य रात्रि का नाश कर देता है। इसी बड़पन को बार-बार दिखाया है, यथा -

शबरी गिद्ध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ !
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुणनाथ !!
राम सुकंठ विभीषण दोऊ! राखे शरण जान सब कोऊ !!
नाम अनेक गरीब निवाजे ! लोक वेदवर विरद विराजे !!

अर्थात् राम ने शवरी और गिद्ध जैसे सुसेवकों का उद्धार किया पर नाम ने तो अनेक दुष्टों का उद्धार कर दिया। राम ने सुग्रीव और विभीषण को शरण दी पर नाम ने तो अनेकों दीन-हीनों को तार दिया, जिन्होंने भी उनकी विरद की दुहाई दी ।

नाम की महिमा अपरम्पार

नाम की महिम अवर्णनीय है। तुलसीदास जी नाम की महिमा का वर्णन करते अघाते नहीं हैं। वे कहते हैं कि यह राम नाम, ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों को समाहित किये हुए है तथा वेद का जो प्राण है (अर्थात् 'प्रणव' या ' ओंकार ') वह भी राम नाम से ही निकला है -

विधि हरिहर मय वेद प्रान से! ।।।। तथा

राम नाम्नः समुत्पन्नः प्रणवो मोक्षदायकः !

रूपं तत्त्वमसेश्चासौ वेद तत्त्वधिकारिणः !!

अर्थात् राम नाम से उत्पन्न हुआ प्रणव (ओंकार) मोक्ष का दाता है और वेद के अधिकारीयों के लिए 'तत्त्वमसि ' रूप है। वे आगे कहते हैं -

नाम अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के समान है जो अशुभ कर्मों को जला देता है। मोहान्धकार का नाश तथा संतापों को मिटाकर शीतल कर देता है -

हेतु कृशानु भानु हिमकर के ! ।।।। तथा और भी कहा है।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू ! लोक लाहु परलोक निबाहू !!

साधक नाम जपहि लय लाये ! होहि सिद्ध अणिमादिक पाये !!

जपहि नाम जन आरत भारी! मिटहि कुसंकट हौंहि सुखारी !!

नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं !

सेवक सुमिरत नाम सप्रीती ! बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती !!

नाम प्रसाद शोच नहीं सपने !

भाय कुभाय अनख आलस हूँ ! नाम जपत मंगल दिशि देशहूँ !!

कहहूँ कहाँ लगी नाम बड़ाई ! राम न सकहि नाम गुण गाई !!

अर्थात् स्मरण करने से नाम सबको सुलभ है तथा सुख देने वाला है एवं संसार में लाभ देने वाला और परलोक में निर्वाह करने वाला है। जो साधक मन लगा कर नाम जपते हैं वे अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ पाकर सिद्ध हो जाते हैं। जो महादुःखी मनुष्य नाम को जपते हैं उनके संकट

मिट जाते हैं। नाम के लेने से भवसिंधु सूख जाता है अर्थात् मनुष्य इस संसार सागर को आसानी से पार कर जाता है। जो सेवक प्रेम से नाम का स्मरण करते हैं वे बिना परिश्रम के बड़े बली मोह के दल को जीत लेते हैं, अर्थात् मोह के बंधन से छुटकारा पा जाते हैं तथा नाम के प्रसाद से उन्हें सपने में भी किसी प्रकार का सोच नहीं होता। नाम की ऐसी महिमा है कि प्रेम से या बैर से, ईर्ष्या से या आलस्य से, नाम को जपते ही दशों- दिशाओं में मनुष्य का कल्याण हो जाता है। नाम की बढ़ाई कहाँ तक की जाय - यह वर्णनातीत है, स्वयं राम भी नाम के गुण का वर्णन करने में असमर्थ हैं।

कलियुग में नाम की विशेष महिमा

यों तो नाम की महत्ता हर युग और हर काल में रही है पर कलियुग में इसकी विशेष महत्ता बताई गयी है। सतयुग, त्रेता और द्वापर में पूजा, यज्ञ और योग से जो गति होती थी वही गति कलियुग में लोग नाम से पाते हैं। कलियुग में कर्म, भक्ति और ज्ञान, कुछ भी नहीं है। केवल राम नाम का है सहारा है -

कृतयुग त्रेता द्वापर हूँ पूजा मख अरु जोग !

जो गति होई सो कलहि हरि नाम ते पावहिं लोग !!

नहिं कलि कर्म न भक्ति विवेक ! राम नाम अवलम्बन एकू !!

इस सन्दर्भ में कहा भी गया है -

रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरनमक्तिमुपैती जन्तुः !

कलौयुगे कल्मषमानसा नामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः !!

अर्थात् राम अथवा इन दो अक्षरों को सदा आदरपूर्वक जपने से प्राणी मुक्ति पाता है। कलियुग में पापी मनुष्यों को धर्म में अन्य अधिकार नहीं है।

कलिमल विपुल विभंजन नामम !

नाम कामतरु काल कराला ! सुमिरत समन सकल जगजाला !!

अर्थात् नाम कलियुग में अपार दुखों का नाश करने वाला है। नाम कल्प- बृक्ष है और कलियुग में इसके स्मरण मात्र से ही जगत के सम्पूर्ण जाल का नाश हो सकता है।

राम नाम के प्रताप एवं प्रभाव के अन्य दृष्टांत

राम नाम का प्रताप एवं प्रभाव अपार हैं। तुलसीदास अन्य दृष्टांतों द्वारा भी नाम की महिमा जताते हैं। वे कहते हैं कि अमृत मंथन से जो हलाहल विष निकला उसे शिव जी नाम (राम का नाम) लेकर पी गए। नाम के प्रभाव से वह विष भी अमृत हो गया -

कालकूट फल दीन्ह अमी के !

और सीधा नाम लेने की बजाय उल्टा नाम (राम की बजाय 'मरा') जपकर भी आदिकवि वाल्मीकि सिद्ध हो गए थे -

जानि आदि कवि नाम प्रतापु ! भये सिद्ध करि उल्टा जापू !!

और भी विविध प्रसंगों के उद्धरण दे देकर तुलसीदास जी ने नाम का प्रताप सिद्ध किया है, यथा

शुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी ! नाम प्रसाद ब्रह्म सुख भोगी !!
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू ! भक्त शिरोमणि भये प्रह्लादू !!
ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नामू, पायउ अचल अनूपम ठामु !!
अपर अजामिल गज गणि काऊ ! भये मुक्त हरि नाम प्रभाऊ !!
सुमिर पवनसुत पावन नामू ! अपने बस करि राखेउ रामू !!

तथा

चहुँ युग तीन काल तिहुँ लोका ! भये नाम जपि जीव विशोका !!

वेद पुराण संत मत एहू ! सकल सुकृत फल नाम सनेहु !!

अर्थात् नाम के ही प्रसाद से शुक, सनक, आदि सिद्ध मुनियों और योगियों को ब्रह्मानन्द का सुख प्राप्त हुआ। यह नाम का ही प्रताप था कि जिससे प्रह्लाद भक्त शिरोमणि हो गये और ध्रुव ने अनुपम एवं अचल स्थान पा लिया। नाम के प्रभाव से ही अजामिल, गज और गणिका को मुक्ति मिल गयी। नाम के सुमिरन से तो हनुमान जी ने राम को ही अपने वश में कर

लिया। उनका कहना है कि चारों युग, तीनों काल एवं तीनों लोकों में नाम जपकर जीव शोक रहित हो गये। वेद, पुराण, संत - सभी का मत है कि नाम से प्रेम करना ही सभी पुण्यों का फल है।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि नाम नामी तक पहुँचा देता है, ईश्वर में लय करा देता है। तुलसीदास जी भी कहते हैं कि नाम लेते-लेते नामी उसी स्वरूप में प्रगट हो जाता है। नाम लेने वाला नामी का दर्शन करने लगता है - उसे सब में नामी का रूप दिखाई देने लगता है। यह वह अवस्था हो जाती है जब नाम और नामी में कोई अंतर नहीं रह जाता है।

नाम निरूपन नाम जतन ते ! सो प्रगटन जिमि मोल रतन ते !!

स्वयं तुलसीदास जी राम का नाम लेते-लेते राममय हो गये थे। उन्हें सभी में राम के दर्शन होते थे। जड़-चेतन सभी उन्हें राम-मय प्रतीत होता था -

जड़ चेतन जग जीव जे सकल राम मयि जानि !

तभी तो वे सारे संसार को सिया-राम-मय जानकर प्रणाम करते हैं -

सियाराममय सब जग जानी ! करों प्रणाम जोरि युग पानी !!

इस प्रकार काव्य शिरोमणि, परम भक्त तुलसीदासजी ने राम की महिमा को अपार, अथाह एवं वर्णनातीत सिद्ध करते हुए कहा है कि " नाम " सर्व-समर्थ, सर्वगुण सम्पन्न, सर्वमंगलकारी, भवसागर को पार करने वाला, मोक्षदायक तथा ईश्वर को प्राप्त कराने वाला है।

हमारे सत्संग परिवार के प्रेमी साधक जानते हैं, परम पूज्य दादा गुरुदेव (डॉ। श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) एवं पूज्य सरदारजी भाई साहब ने भी बार-बार बताया है कि सभी रोगों की औषधि 'नाम' है। अतः हमें अपने गुरु ने जो भी नाम दिया है उसके सतत जप-ध्यान-साधन मात्र से मनुष्य सारे बंधनों से छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। गुरुदेव हमें शक्ति दें कि हम सब नाम सुमिरन करने में सफल हों।

राम सन्देश : अप्रैल, १९९४

- (डॉ) मुन्द्रिका प्रसाद, मुजफ्फरपुर (बिहार)

विवेक विचार

नाम साधना का विशद विवेचन

(पूज्य आचार्य अक्षय कुमार बैनर्जी)

नाम चिंतामणि: कृष्णशचैतन्यरसविग्रह : !
पूर्ण : शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नात्मा नामनामिनोः !!
म्रियमानो हरेनार्म गृणंन पुत्रोपयारितम !
आजामिलो डप्यगाध्याम किं श्रद्धयागृणन्!

योगिराज गम्भीर नाथ जी साधन-सम्बन्ध में अपने गृहस्थ शिष्यों को प्रधानतः गुरुदत्त मन्त्र का ही आश्रय लेने का उपदेश देते थे। यदि कोई शिष्य साधन प्रक्रिया के विषय में कोई प्रश्न करता था तो प्रायः वह कह देते थे, ' जो मिला है उसी का जाप करो। यह बहुत तेजस्वी मंत्र है, नाम पर विश्वास रखो, नाम से सब कुछ हो जायगा।' गुरुदत्त भगवन्नाम में सर्वाथ-साधन की क्षमता निहित रहती है। श्रद्धा, भक्ति और एकान्तिक निष्ठा के साथ उस नाम का जप करते-करते क्षमता का विकास होता है।

भोजन करते समय जैसे ध्यान रहता है व्यंजन की ओर, स्वाद की ओर, किन्तु प्रत्येक ग्रास के साथ ही साथ जैसे क्षुधानाश, देह ओर इन्द्रियों की शक्ति वृद्धि तथा स्वाद का सुख

अपने आप मिलता जाता है, उसी प्रकार नाम जप के समय चित्त तो संलग्न रहता है नाम-नामी के अभिन्न स्वरूप मंत्र में, किन्तु प्रति बार के नामोच्चारण के साथ ही साथ अलक्षित रूप में अनित्य विषय-भोग-वैराग्य, नित्य सत्य-चिदानन्द स्वरूप मंत्रात्म भगवान में प्रेम भक्ति एवं सर्वार्थ-सिद्धिमयी भगवद अनुभूति ओर तज्जनित अतिन्द्रिय सुख हृदय के अन्दर विकास पाता रहता है। भोजन के फलस्वरूप ग्रास -ग्रास में पुष्टि ओर क्षुधानिवृति इत्यादि के सम्पन्न होते रहने पर भी जैसे प्रति ग्रास में दिखाई नहीं देते, अनेक ग्रासों का फल संचित होने पर ही पता लगता है, उसी प्रकार नाम जप के अति आश्चर्यजनक फल को भी प्रति बार नामोच्चारण के साथ-साथ अस्वच्छ -बुद्धि साधक समझने में समर्थ नहीं होता ।

दीर्घ काल के निरन्तर साधन से अंतःकरण में संचित आध्यात्मिक सम्पत्ति अपनी ज्योति से ऊपरी मल को एक करके बुद्धि और हृदय के सम्मुख जब प्रकाशित होती है तभी इसका अनुभव होता है। बुद्धि और हृदय जब स्वच्छ हो जाते हैं, तभी नाम के भीतर निहित अचिन्त्य भाव-सम्पत्ति का प्रति बार के नाम-स्मरण मात्र से आस्वाद प्राप्त होने लगता है ।

गुरुदत्त मंत्र अक्षर-समिष्टि नहीं है, किवा उसका आन्तरिक या शाब्दिक अर्थ भी नहीं होता। मंत्र में अन्तर-बुद्धि रचना शास्त्रों में महान अपराध माना गया है। मंत्र प्राणवान होता है, और होता है आध्यात्मिक तेज का आधार। सद्गुरु अपनी साधन लब्ध अलौकिक योग शक्तिमय बनाकर शिष्य को प्रदान करते हैं। गुरु शिष्य के प्रति अक्षर समिष्टि का उच्चारण करते हैं एवं जिस अक्षर समिष्टि की बार-बार आवृत्ति करने के लिए शिष्य को उपदेश करते हैं, वह अक्षर समिष्टि ही मंत्र नहीं है। अक्षर समिष्टि तो मंत्र का देह मात्र है - आलंबन मात्र है। उसके भीतर जो चिन्मय आत्मा विद्यमान है, जो वाणी से परे जीवनशक्ति उसमें प्रविष्ट रहती है, वही वस्तुतः मंत्र है। असीम शक्ति सम्पन्न गुरु अपनी गुरुशक्ति को मंत्र रूप में परिणित करके - अपने दैहिक व्यक्तित्व का अतिक्रमण कर अपने अपने को चित्त शक्ति रूप में परिणित करके - मंत्राक्षर समिष्टि में प्रवेश करते हैं एवं उसके आत्मा रूप में विराजमान रहते हैं। वह चित्त शक्तिमय मंत्र-आत्मा गुरु ही यथार्थ स्वरूप है ।

गुरु ही मंत्र है, मंत्र ही गुरु है। गुरु शक्ति ही मंत्रशक्ति है। असाधारण योगशक्ति सम्पन्न उपास्य भाव भक्ति महापुरुष अपनी साधना उत्पन्न चित्त-शक्ति के द्वारा जड़ स्वभाव मिटटी,

पत्थर, काष्ठ आदि की बनी हुई प्रतिमा की जड़ता नष्ट करके उसके अन्दर जैसे अति अद्भुत दैवी शक्तियों का और ईश्वरीय भावों का आविर्भाव सम्पादन करते हैं एवं श्रद्धालु भक्त की दृष्टि में वही प्रतिमा जैसे फिर जड़ रूप में प्रकाशित न होकर चिन्मय और शक्तिमय अभीष्ट देवता के स्वरूप में ही प्रकट होती रहती है, उसी प्रकार योग शक्ति के आधार करुणा-निधान सद्गुरु अक्षर-विशेष या वाक्य-विशेष को भी उसी प्रकार आत्म शक्ति के अनुप्रवेश द्वारा प्राणवान, चैतन्यमय और महाशक्ति समन्वित अभीष्ट देवता रूप से प्रकट करके शिष्य के हृदय में प्रतिष्ठित कर देते हैं। देव विग्रह के समान ही मंत्र भी गुरु और देवता से पृथक नहीं होता है ।

तत्त्व दृष्टि से जैसे परमदेवता परमेश्वर अन्तरात्मारूप से सभी दिखने वाले रूपों में विराजमान रहते हैं, उसी प्रकार सुनाई देने वाले शब्दों में या और विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषयों में नित्य विराजमान रहते हैं। विषय मात्र के पारमार्थिक स्वरूप तो वे हैं ही। किन्तु अपनी ही माया से अपने को ढककर वे जड़ धर्मी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि प्राकृतिक स्वरूपों में प्रतीत होते रहते हैं ।

माया-युक्त विद्या-शक्ति सम्पन्न भागवत पुरुषगण अध्यात्म-कल्याण के इच्छुकों के प्रति कृपा दिखाते हुए विशेष विशेष रूप और शब्द समिष्टि को माया के आवरण से मुक्त करके उसके अन्दर अपने अन्तर्यामी चैतन्यमय परमात्मा को समुज्ज्वल मूर्ति में प्रकट कर देते हैं, एवं उसी को उपास्य देवता के रूप में उन उपासकों के निकट उपस्थित करते रहते हैं। वे सब रूप भी भावमय होते हैं। वे सभी विशेष विशेष रूपों में प्रकाशित होने वाले भगवान के ही विग्रह-स्वरूप होते हैं। भगवान के ज्ञान-शक्ति-प्रेम आदि महात्म्यों की विज्ञापक वे सभी भावराशियाँ रूपमय देह धारण करके प्रतिमा या प्रतीक और शब्दमय देह धारण करने से 'मंत्र' कही जाती हैं ।

अनन्त ज्ञान-शक्ति सम्पन्न भगवत-भाव-भावित सद्गुरु उस सच्चिदानन्दधन मन्त्रमूर्ति भगवान को शिष्य के हृदय मन्दिर में चिर जाग्रत रूप में प्रतिष्ठित कर देते हैं। शिष्य जितना ही दिन-पर-दिन, क्षण-पर-क्षण, उस मंत्र की सेवा करता रहता है, उतना ही मंत्र का माहात्म्य शिष्य के निर्मल हो रहे अंतःकरण में प्रकाशित होता रहता है, उतना ही मंत्र-निहित शक्ति,

ज्ञान, भाव रस आदि ऐश्वर्य स्वयं प्रकट करके शिष्य को कृतार्थ कर देते हैं। शिष्य को सर्वांगीण कल्याण पर पहुंचाने के लिए जिस-जिस वस्तु का प्रयोजन होता है, सभी कुछ गुरुदत्त मंत्र की सेवा से सुलभ हो जाता है। शास्त्रीय विचार के मंत्र तत्व को हृदयंगम करके उसकी अचिन्त्य शक्ति में अविचल विश्वास रखना आवश्यक होता है। ऐसी धारणा बनाये रखनी चाहिए की गुरु और भगवान दोनों एक मूर्ति हो, मंत्ररूप देह धारण करके अपनी कृपा से हमारे हृदय में विराजमान हैं, सर्वदा सतर्क और भक्ति-पूर्ण दत्तचित्त होकर, उनकी सेवा में सम्पूर्ण शक्तियों को लगाना ही हमारा कर्तव्य है। नित्य-निरन्तर प्रेम के साथ उसका स्मरण, चिन्तन और निध्यासन ही उसकी सेवा है। यही नाम जप है। इसी से सर्वार्थ-सिद्धि होती है। 'जपातिसिद्धि, जपातिसिद्धिजपातिसिद्धि संशय : '

योगीराज गम्भीरनाथ जी से जब मंत्र का अर्थ पूछा जाता था तब वे कहते थे, ' यह तो भगवान का नाम है और अर्थ से क्या होगा?' नाम कहने मात्र से नामी का स्वरूप चित्तपट पर उदित हो जाता है। नाम द्वारा पुकारते ही नामी उत्तर देते हैं, सुनवाई करते हैं। सुतरा नाम का अर्थ है - नामी। गुरु का दिया मंत्र भगवान का नाम है, अतएव स्वयं भगवान ही मंत्र के अर्थ हैं। नामी के स्वरूप के साथ जितना घनिष्ट परिचय संस्थापित होता है, नाम का अर्थ उतना ही प्रस्फुटित होता है।

किसी एक नए मनुष्य के साथ भेंट होने पर, उसकी सम्पूर्ण चिन्ताधारा, भावधारा, कर्मधारा, ज्ञान-विज्ञान, शक्ति-सामर्थ्य और सुख-दुःख इत्यादि के साथ जितना योग संस्थापित होता है - उतना ही उसको पहचाना जाता है, समझा जाता है और उसके साथ एक सम्बन्ध प्रतिष्ठित हो जाता है। उसी प्रकार जब सद्गुरु जीवन्त नाम के रूप में, भगवान् को शिष्य के निकट उपस्थित करते हैं, तब उस नाम-देह के अंग-प्रत्यंग के सन्निवेश को बारीकी से खोजने पर, नाम शब्द के व्यष्टिगत और समिष्टिगत अर्थ को अतिशय विशद रूप में जानकर भी, तत्त्वतः नाम का अर्थ अज्ञात ही रह जाता है। नाम के वास्तविक अर्थ का यथार्थ परिचय प्राप्त करने के लिए नित्य-निरन्तर विचारशील चित्त से नाम का संग करना, एकान्तिक भाव से नाम की सेवा करना आवश्यक है। श्रद्धा, भक्ति और एकाग्रता के साथ विचार पूर्वक नाम का संग और सेवा करते-करते देह, मन और बुद्धि जितनी निर्मल और प्रेममय होगी, उतना ही नाम और नामी के बीच की दूरी कम होगी, नाम के भीतर भगवान् का प्रकाश समुज्ज्वल होगा, तथा

जीव-प्रेम-महासिन्धु विश्वगुरु श्री भगवान अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्य, माधुर्य और शक्ति लेकर, नाम के भीतर से अपने को प्रकट करके आराधक को कृतार्थ कर देंगे।

भगवान को पहचानना ही नाम को पहचानना है। भगवान के साथ परिचय होना ही नाम से परिचय होना है, सुतरां कार्यतः नाम का या गुरुदत्त मंत्र का सम्यक अर्थबोध हो जाना ही सिद्धि है जो कि शिष्य के साधन सापेक्ष है। सुदृढ़ विश्वास और अनुराग के साथ नाम-साधन करते-करते जितना ही नाम के साथ परिचय होगा, उतना ही नाम का प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक मात्रा चिन्मय जान पड़ेगी। प्रेम माधुर्य से भरपूर होकर उसका आह्वान होगा एवं नाम स्मरण मात्र से चित्त भगवान में समाहित हो जायगा, भगवत-प्रेम-सागर में डूब जायगा। साधन के आरम्भ से ही गुरुदत्त 'नाम' को चिन्मय, चिन्मय शक्ति सम्पन्न और भगवान के साथ स्वरूपतः अभिन्न मानकर विश्वास रखना चाहिए।

प्रस्तुति - रामसागर लाल, गोरखपुर।